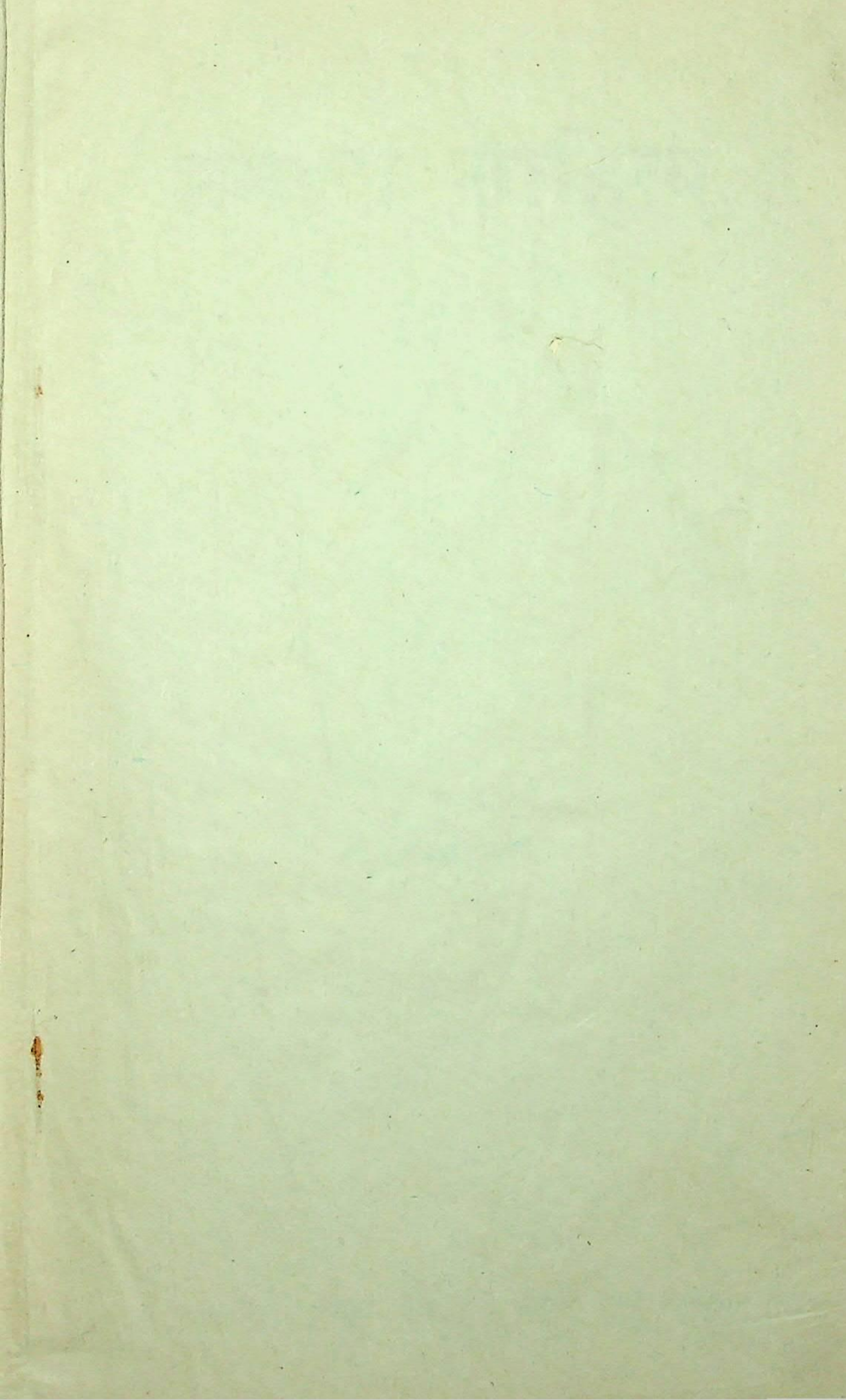
सम्पादक
रमेश मेहता

हमारा साहित्य

1976

जे. एण्ड के. अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू



हमारा साहित्य

1976

सम्पादक

रमेश मेहता

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू





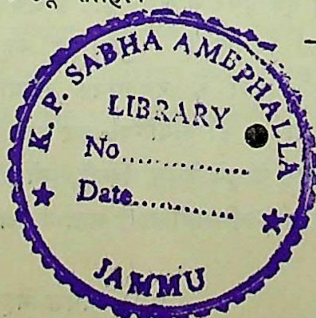
प्रकाशक : जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मूं / मुद्रक : अमर आर्ट प्रेस, मोती बाज़ार, जम्मू / प्रथम संस्करण : १६७८
मूल्य : ६ रुपये ५० पैसे...

HAMARA SAHITYA 1976 : *Edited by* : RAMESH MEHTA



अनुक्रमणिका





आमुख

•

साहित्यिक दृष्टि से जम्मू-कश्मीर एक सम्पन्न प्रदेश है। इस धरती पर हिन्दी, उर्दू, डोगरी, पंजाबी, कश्मीरी, लद्दाखी तथा गोजरी और भद्रवाही भाषाओं में एक साथ विपुल साहित्य रचना हो रही है। प्रकृति के न जाने कौन से नियम के अन्तर्गत इन सभी भाषाओं के लेखकों के बीच सर्वाधिक लोकप्रिय विधा कविता ही है। कहानी, निबन्ध, नाटक तथा उपन्यास की ओर यहां के साहित्यकारों ने वांछित ध्यान नहीं दिया है। एक अन्य विस्मित करने वाली बात यह है कि यद्यपि इन भाषाओं में रचे जा रहे साहित्य के सृजन की प्रेरणा लेखकों ने एक ही मिट्टी से ग्रहण की है तथापि इनके चिन्तन, इनकी अभिव्यक्ति तथा शैली में एक दूसरे से पर्याप्त भिन्नता है। यही भिन्नता इन भाषाओं में पृथक पृथक साहित्य रचना की प्रवृत्ति की सार्थकता को रेखांकित करती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह आपस में कहीं, किसी भी स्थान पर समान्तर नहीं चलती हैं। वस्तुतः इन भाषाओं के लेखकों ने एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया है और एक दूसरे से बहुत कुछ सीखा भी है।

हमारा साहित्य के प्रस्तुत अंक का रूप-बंध हमने कुछ इस दृष्टि से निर्धारित किया था कि इस प्रदेश में भिन्न-भिन्न भाषाओं में रचे जा रहे साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करके उन बिन्दुओं की तलाश की जाये जहां यह एक दूसरे से अलग होते हैं अथवा जहां यह परस्पर पूरक भूमिका निभाते हैं। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि लेखकों के रचनात्मक सहयोग के अभाव में हम अपनी मूल योजना को कार्यान्वित कर पाने में असफल रहे हैं। अपने इस प्रयास में हमें केवल हिन्दी, डोगरी, पंजाबी तथा उर्दू लेखकों से सहयोग मिल पाया है अतः यह अंक इन्हीं भाषाओं को समर्पित है।

—रमेश मेहता

जम्मू-कश्मीर में हिन्दी-साहित्य की नई प्रवृत्तियां

—डॉ० ओम प्रकाश गुप्त

(क) कविता

जम्मू-कश्मीर में लिखे जा रहे हिन्दी साहित्य पर विचार करें तो सबसे पहले हमें कविता की ओर ध्यान देना पड़ता है क्योंकि नये लेखकों में सबसे अधिक संख्या ऐसे युवकों की है, जिन्होंने कविता को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। वास्तव में आज जो लोग कविता लिख रहे हैं, उनके तीन वर्ग सामने आते हैं :—

१. ऐसे लेखक जो आरम्भ से अब तक, मुख्यतः पुरानी प्रवृत्तियों के पालक रहे हैं। इनमें सर्वश्री शंकर शर्मा 'पिपासु', देवरत्न शास्त्री, जानकीनाथ कौल 'कमल', गगादत्त 'विनोद' तथा दुर्गादत्त शास्त्री इत्यादि के नाम गिनाये जा सकते हैं।

२. ऐसे लेखक जो मुख्यतः पुरानी शैली की कविता करते हैं लेकिन यदा-कदा नये ढंग की रचना करने का मोह छोड़ नहीं पाते। सर्वश्री मनसाराम शर्मा 'चंचल', चन्द्रकान्त जोशी, राजेन्द्र बिन्द्रा जैसे कवि इस वर्ग में आते हैं।

३. ऐसे लेखक जो मुख्यतः नयी शैली के कवि हैं और जिनके नामों की एक लम्बी तालिका बन सकती है।

शिल्पगत प्रवृत्तियां

शिल्पगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से एक बात सीधी सामने आती है कि पुरानी, छन्दोबद्ध लीक को छोड़कर नयी कही जाने वाली कविता की ओर प्रवृत्ति अधिक है।

नयी कविता की मुख्य विशेषता—लय योजना

सामान्यतया, जो रचनाएं, 'नयी' कविता के नाम से जानी जाती हैं, उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनमें न तो कोई लय होती है, न कोई और शिल्पगत ऐसी विशेषता जिसके आधार पर उसे कविता की संज्ञा दी जा सके ; किन्तु जम्मू-कश्मीर के लेखकों की अधिकांश रचनाएं पढ़ कर भारी प्रसन्नता होती है जब हम देखते हैं कि ये लेखक शब्द-चयन और पंक्तियों की बानगी के विषय में बहुत सजग रहे हैं। शब्दों का ध्वन्यात्मक माधुर्य, एक प्रकार की संगीतात्मकता और लय के प्रति मोह इन रचनाओं की विशेषता है। मोहन निराश जैसा कठोर प्रतीकवादी कवि भी अपनी रचना के लय-विधान के प्रति सजग रहता है—

"शब्द बासी हो गये
सब अर्थ बासी हो गये
हर बात बासी हो गयी।
हर वितस्ता वुलर होके रह गयी
तीर-वेला लहर होके रह गयी
बस्तियां सब शहर होके रह गयीं
आदमी ने पी सुधा जो
जहर होके रह गयी"।[१]

नयी कविता—नये प्रतीक

नये कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रतीक भी नये जुटाये हैं। उनके प्रतीक-विधान की दो मुख्य विशेषताएं हैं—

(क) कवियों ने प्रतीक अपने परिवेश से जुटाये हैं।
(ख) यह प्रतीक-विधान परंपरा से पूरी तरह हटकर है।

---

१. हमारा साहित्य १९६७, पृष्ठ १४२

उदाहरण के लिए सुभाष भारद्वाज 'वसन्त' का वर्णन करते हुए कहते हैं :–

"वसन्त यह आया है—
मजदूर के घर महीने की पहली तारीख-सा—
महीने की पहली तारीख जो मजदूर के घर में
दोपहर तक
थोड़ी-सी मुसकुरा कर रोने लगती है
× × ×
आया है वसन्त
जैसे
कुत्तों के सामने फेंका गया रोटी का टुकड़ा[1] ।"

आज की मकेनिकल जिन्दगी में कवि मशीनी प्रतीक भी ढूंढता है। रमेश मेहता 'वसन्त' की तस्वीर खींचते हुए कहते हैं :—

"धूप के
टाइपराइटर ने
फूलों के रिबन से
दिन के कागज पर
टांक दिये हैं—
कुछ नीले-पीले शब्द
लो आ गया मधुमास[2] ।"

मशीनी बिम्बों की श्रृंखला में मुझे आनन्दम का यह प्रयोग काफी पसन्द आया है—

"वर्कशाप में
कसकर बंधा
लोहे का टुकड़ा
बांक के जबड़ों बीच
जब रेत रहा होता हूँ,
उसके नयनों का काजल
है छा जाता हाथों पर[3] ।"

---

१. हमारा साहित्य १९६७, पृष्ठ १३१-३२

२. खुले कमरे बन्द द्वार, पृष्ठ २२

३. देखती आकाश आंखें, पृष्ठ ३९

एक बात और उल्लेखनीय है कि लगभग हर कवि ने 'सूरज' का प्रतीक प्रयुक्त किया है। सुभाष भारद्वाज (झूठा सूरज), रतनलाल शान्त (सूरज साक्षी था), शशिशेखर तोषखानी (मोम के पंख), रमेश मेहता (प्रतिकार दो), मोहन निराश (सूरज की नीयत) आदि की कविताएं उदाहरण के लिए उद्धृत की जा सकती हैं।

इन लेखकों ने बिम्ब-निर्माण के लिए मिथकों का भी सहारा लिया है। राम और कृष्ण सम्बन्धी कथाओं और मान्यताओं के सहारे बहुत-सी कविताओं में अपनी बात कहने की कोशिश कवि ने की है। **कृष्ण मेरा पर्याय** (मोहन निराश), **कृष्णावतार मैं** (रमेश मेहता) आदि अनेक रचनाएं इस संदर्भ में गिनायी जा सकती हैं।

गीत और नवगीत के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण

प्रवृत्तियों का आकलन करते हुए हमारा ध्यान उन रचनाओं की ओर भी जाता है जिनमें गीत लौट आये हैं, नया बाना पहन कर। गीत के इस आकर्षण से सुभाष भारद्वाज जैसा कवि भी अछूता नहीं रह सका है। 'गीत' के शीर्षक से छपी उनकी एक कविता इस प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है—

"प्यासी हैं खिड़कियां, भूखे दरवाजे
कमरों के बीच कैद हुए हैं जनाजे
बुझी राख में सुलग रहे अंगारे
बैठा हूं मैं जिन्दगी के किनारे[1]।"

इसी तरह चन्द्रकांत जोशी भी कुछ नयी कविताओं में नये विचार, नये बिम्बों का सहारा लेकर सुन्दर गीतों के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। उदाहरणतया एक ताज़ा कविता की ये पंक्तियां सुनिये—

"पांव सत्य के हमने काटे, रेतीले-से दुर्ग बनाये।
दौड़ चांद तक, मंगल पर भी, देख अंधेरा दीप जलाये॥"

गीत के मच पर एक युवक लेखक, इधर काफी उभरने लगा है; उसका नाम है—निर्मल विनोद। अपनी बहुत-सी रचनाओं को वह स्वयं 'नवगीत' की सज्ञा देता है। नवगीत का सही रूप क्या है, यह हम अभी तक समझ नहीं पाये हैं। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इन प्रयोगों का मुख्य कारण तुक, छन्द और लय की तरफ लौट आने की तमन्ना है। निर्मल विनोद की कुछ पंक्तियां यूं हैं—

---

१. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे, पृष्ठ ३३

"रंग बड़े वैसे

कि

छूटते नहीं,

माने भी ऐसे कि रूठते नहीं।

चिरपरिचित सांसों की

गन्ध कपूरी

उड़ी क्या ?

इकाई हो गयी अधूरी[1] !"

कविता की कथ्य-गत प्रवृत्तियां

जम्मू-कश्मीर का हिन्दी कवि अपने आपको राष्ट्र के हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों से बेहद जुड़ा महसूस करता है। सामाजिक परिवेश में व्याप्त असंतोष, वैयक्तिक टूटन, निराशा और ऊब, आक्रोश और संत्रास इत्यादि की अभिव्यक्ति सिद्ध करती है कि उसकी मानसिकता हिन्दी-लेखक की व्यापक मानसिकता से अलग नहीं है। कथ्य-गत मुख्य प्रवृत्तियों को हम इस प्रकार आकलित कर सकते हैं :—

१. भावुकता को छोड़कर समस्याओं के प्रति तर्कपूर्ण, बौद्धिक दृष्टिकोण

नया लेखक गहराई से महसूस करता है कि परिवेश में परिवर्तन अपेक्षित है ; इस परिवर्तन के बिना मनुष्य की प्रगति रुक जायेगी। वह, अक्सर, अपनी शक्ति पर भरोसा करके प्रश्नों के उत्तर खोजने की कोशिश करता है। वह अपने आप से कहता है—

"नहीं

अपनी आंखों को तुम आकाश की ओर मत उठाओ

× × ×

मेरा विवेक

भावुकता की विषकन्या के स्पर्श से

मुक्त रहना चाहता है[2]।" —(आदर्श)

---

१. पत्थरों का दरिया, पृष्ठ २८

२. एक आयास अनायास, पृष्ठ ५५

यथार्थ से जूझने की यह कसक कवि को मृत्यु का नहीं जीवन का गीतकार बना देना चाहती है। यदि मौत एक अनिवार्य नियति है, तो भी वह जीवन के आयामों की तलाश छोड़ना नहीं चाहता और कहता है :—

"अपनी मृत्यु को
रोजनामचे के एक पृष्ठ से दूसरे पृष्ठ तक ढोता हुआ मैं—
चलता जाता हूं
उस पुल की तलाश में
जो मुझे जीवित सन्दर्भों के भूगोल से जोड़ दे[1]।"

—(शशिशेखर तोषखानी)

२. मोम के पंखों के सहारे परवाज़ की तमन्ना और ध्येय को प्राप्त न कर सकने की मजबूरी :—

साहित्यकार चाहता है कि इन्द्रधनुष के रंगों से धरती को सजा दे या कि धरती की उलझनों को सुलझा कर अपने जगत को नया रूप दे ; पपड़ाए होंठों पर बहार के फूल खिला दे और उन फूलों पर इतराती तितलियों के रंग, रूप, गीत को शब्दों में बांध दे। वह अपने परिवेश को पूरी तरह देख लेना चाहता है। उसका कहना है—

"बर्फीले शिखरों से आई
अनेक झरनों, झीलों
जलाशयों के
कलकल-छलछल"—
× ×
(को देखने के लिए)
"पूरी खिड़की खोली मैंने[2]।" —(पृथ्वीनाथ मधुप)

सारे वातावरण को देख और भोग कर वह अपने आपको एक घटाटोप में घिरा महसूस करता है। आरंभिक स्थिति में वह अपने लिए थोड़ा-सा खुला आकाश देखकर कहता है—

"कुछ अनाम फूलों और पत्तियों ने
चीर दिया है घने कोहरे की परत को

---

१. एक अपरिचित आकाश, पृष्ठ २३
२. हमारा साहित्य १९७४, पृष्ठ ६४

और हमारे लिये खोल दिया है
थोड़ा-सा आकाश[1]।" —(तोषखानी)

कवि देखता है कि फूलों से भरी धरती एक खामोश पेंटिंग नहीं है; एक जीवंत सत्ता है जो उसके सामने अनेक प्रश्न उछाल देती है। जल्दी ही वह पलायनवादी हो जाता है। ऐसी स्थितियां जिनमें आशा बनती है कि कवि अपने विद्रोह को पूरे ज़ोर के साथ स्वर देगा, शीघ्र तिरोहित हो जाती हैं और हमें सुनना पड़ता है—

"नहीं कुछ नहीं होगा
बन्द मुट्ठियों में
उबलता आक्रोश जेबों में पड़ा सड़ जायेगा[2]।" —(तोषखानी)

वह निश्चित रूप से जोखिम उठाना चाहता है लेकिन परिस्थितियों ने उसे जोखिम उठाने का उपयुक्त अवसर भी तो नहीं दिया। नयी पीढ़ी के कवि ने इस मन:स्थिति को पूरी कड़ुआहट के साथ भोगा है—

"मेरा
विकल्प का देवता
पिछले तीन दशकों में
स्वल्प मृत्यु का शिकार हुआ है।
विकल्प एक जोखिम होता है
मुझे यह उठाने का अवसर नहीं मिला[3]।"—(रतनलाल शांत)

इतिहास ने उसे केवल ज़िम्मेदारियां सौंपी हैं, एक ऐसा बोझ जिसे क्रास की तरह उसे खुद ढोना है—

"लाद दिया जाता है—
अनचाहे—
हर बार—
हमारे कंधों पर
एक नया फर्ज
× ×

---

१. थोड़ा सा आकाश, पृष्ठ ३६
२. एक अपरिचित आकाश, पृष्ठ ३१
३. रतनलाल शांत, नई पीढ़ी से, घोषवती जुलाई १९७४

कि
निर्णय का क्षण
हम से
हर बार छीन लिया जाता है[1]।"   — (रमेश मेहता)

३. **निराशा की चरमसीमा जो लेखक को आत्म-हत्या के लिए प्रेरित करती है**

यहां यह उल्लेखनीय है कि जम्मू-कश्मीर के हिन्दी-कवि अपने विद्रोह को उस तरह प्रकट नहीं कर पाये जिस तरह उनके कुछ साथियों द्वारा 'विद्रोह कविता' के नाम पर व्यवस्था पर सीधे आक्रमण किये जा रहे थे। इसका कारण शायद यह रहा कि हमारे सभी कवि किसी न किसी तरह व्यवस्था के अंग बने रहे हैं। कारण कुछ भी हो, इसका एक लाभ यह हुआ है कि हमारी कविता में एक प्रकार की शालीनता विद्यमान रही है। इस प्रवृत्ति का सही मूल्यांकन तभी हो सकेगा जब पिछले डेढ़-दो वर्षों में लिखी गयी और कुछ साहित्यिक एवं मैत्री-गोष्ठियों में पढ़ी गयी कविताएं प्रकाश में आयेंगी।

कवि ने अनेक बार अपने विश्वास को बनाये रखने की कोशिश की। कई बार उसने नये युग के स्वागत में गीत गाये लेकिन शीघ्र ही उसे एक मोहभंग की मनःस्थिति का सामना करना पड़ा। जहां विश्वास के ज्योतिस्तम्भ ढह जाते हैं और संवेदनाएं खंडहर हो जाती हैं[2], वहां युवा कवि अपने ही से पूछ बैठता है—

एक अदद उधड़ी जिन्दगी,
टांकते न टांकते।
आगे यों चल देने में क्या तुक ?[3]

अपनी ही अंजलि से बूंद-बूंद रीतता जल वह देखता रहता है और कुछ न कर पाने की मजबूरी से बौखला उठता है। उसे सभी चेहरे महज़ इश्तिहार लगते हैं—

"इश्तिहारों की तरह चेहरे सभी के हो गये
इस डगर के मोड़ से जो भी गये सो खो गये।"

यही नहीं—

---

१. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे, पृष्ठ ३६-३७
२. उषा व्यास छवि, **विश्वास के ज्योति स्तम्भ ढह गये। संवेदनाएं हो रहीं खंडहर**, हमारा साहित्य १९७४, पृष्ठ ६२
३. निर्मल विनोद, पत्थरों का दरिया, पृ० ४६

"प्रश्न-चिह्नों-से सभी घर-द्वार हैं
शब्द के कुछ वर्ण हैं
इस पार हैं, उस पार हैं
अर्थ पत्ते हैं
चिनारों के हुए अंगार हैं
इस विभाजित अंगना की बेल पर पतझार हैं[1] ।" —(मोहन निराश)

इसी अनुभूति को मनसाराम शर्मा 'चंचल' इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

' दूर नभ में खोजता वह
एक तारा
शुष्क पुलिनों में नहीं है आज धारा[2] ।"

कवि एक ज़ोरदार शोर सुनता है—

"घर को बचाओ
घर यह तुम्हारा गिरने वाला है[3] ।" —(सुभाष भारद्वाज)

इस अरक्षित स्थिति में कभी तो वह एक अन्धे पक्षी की तरह छटपटाता है[4] तो कभी-कभी उसकी निराशा अति पर पहुंच कर उसे आत्महत्या के लिए प्रेरित करतो है—

"कदम कदम पर
मात ही मात—!
क्या अब भी है पाप—
तुम्हारी किताब में—
आत्मघात[5] ?" —(सुभाष भारद्वाज)

४. मध्यवर्गीय अनुभूति और जीवन की सामान्य स्थितियों का अंकन

एक सामान्य मान्यता है कि कविता विशिष्ट तथा गद्यविधाएं साधारण स्थितियों से जुड़ी रहती हैं। किन्तु नयी कविता उन्हीं आम स्थितियों का चित्रण

---

१. हमारा साहित्य १९६७, पृ० १४२-४३
२. सुषमा, पृ० १९
३. रेत का सागर, पृ० ५०
४. बंधु मेरी नियति/लाल और पीली महक के बीच उड़ रहे/एक अंधे पक्षी की है/जो अब अपने पंख काट रहा है। —रतनलाल शान्त
५. रेत का सागर, पृष्ठ ५८

करती है जो लेखक के जीवन की सामान्य स्थितियां होती हैं। जम्मू-कश्मीर के सभी हिन्दी कवि मध्यवर्ग के हैं अतएव उनकी रचनाओं में इस वर्ग की अनुभूतियों का आकलन स्वाभाविक है। ये कवि न तो सामंतीय रोमांस में चटक देखते हैं और न ही स्वयं को मसीहे की स्थिति में रखकर अपने को दूसरों से अलग, एक मुक्तिदाता बनाए रखते हैं। उनकी अनुभूतियां स्वयं की भोगी हुई हैं और ऐसा करने में अगर वे कहीं-कहीं सपाट-बयानी इख्तियार कर लेते हैं, तो उसके लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अशोक जेरथ सरकारी दुकान के बाहर 'क्यू' में खड़े होकर महसूस करते हैं :—

"लोकतन्त्र के दावेदार शहरी का
अस्तित्व
आज मुझे
बहुत बौना लगने लगा है[1]।"

पृथ्वीनाथ मधुप अपनी प्रेमिका—'कम'—पत्नी का चित्र बड़ी संजीदगी से इस तरह पेश करते हैं :—

"तुम्हारा
दिपता चेहरा
शीत से सिकुड़े, पियराये
साग के पत्ते-सा लगा[2]।"

यही नहीं, नववर्ष की बधाई का तार भी कवि को अस्तित्व की व्यर्थता का बोध करवाता है क्योंकि उसकी सम्पत्ति बस यही कुछ है :—

"दीवारों की उठी सफेदी
खूंटियों पर लटके पत्ते
एक बाजहीन लंगड़ी कुर्सी
सूनी आंखें फाड़े—
तुम्हारा चूल्हा,
घिसे खाली बर्तन......[3]।"

५. कविता में आंचलिकता

सामान्यतया कहा जा सकता है कि जम्मू-कश्मीर के हिन्दी साहित्य में कहीं भी उस प्रवृत्ति को नहीं देखा जा सकता जो उसकी दृष्टि को संकीर्ण बनाये किन्तु

---

१. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे, पृष्ठ ५५
२-३. पृथ्वीनाथ मधुप, नीलजा, पृष्ठ १७-१८

इसका यह मतलब कतई नहीं है कि वह अपने भूगोल से कटा हुआ है। ज्योतीश्वर 'पथिक' अपने आपको 'पत्थरों के देश का एक पत्थर' मानता है तो साथ ही 'अल्बम के चार पृष्ठों पर' वितस्ता की सुबह, गुलमर्ग की दोपहर, झील डल की शाम और हाउस बोट की रात—जैसी सुन्दर कविताएं सुनाता है :—

"दूर तक फैली हुई—
झील······

× ×

लहरों से लहरें हैं जूझती अनन्त ;
एक लम्बे सफ़र का थका हुआ अन्त।
और तुम···
चार-चिनारी पर वादा करके नहीं आये···[1]।

आनन्दम ने भी पत्नीटाप की कई सुबहों को शब्दों में बांधा है। अनेक अन्य लेखकों ने भी ऐसी कविताएं लिखी हैं जिनमें उनका अपना परिवेश अंकित हुआ है। इस सन्दर्भ में पृथ्वीनाथ मधुप की कविता 'रस मञ्जन' की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :—

"चीड़ों का रसविभोर हो सिर हिलाना
पत्तों का दाद देते ताली बजाना
मुझे बहुत भाता है।
गजगामिनी आधुनिका—
मधुर वासन्ती हवा
मदिर भीनी खुशबू से नहा—
जब—
अधखिली कलियों को छेड़
डल के उर को तरंगित करती—
हाउसबोटों की—
खिड़कियों पर लटकते
झीने, उजले पर्दों को

× × ×

१. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे, पृष्ठ २०-२१

लहरा लहरा जाती है

× ×

मैं आनन्द के अथाह सागर में

डूब-डूब जाता हूं[1]।

(ख) कथा-साहित्य

जम्मू-कश्मीर के हिन्दी-लेखक लगभग आधा दर्जन उपन्यास प्रकाशित करवा चुके हैं किन्तु प्रवृत्तियों के आकलन की दृष्टि से कोई भी हमारी सहायता नहीं करता। डॉ० अयूब प्रेमी का 'ये कंगूरे' इतिहास के पन्नों में ले जाता है तो अभी-अभी छपा विजय नीलम का 'पुकार' वैष्णव देवी, कटरा की पृष्ठभूमि पर रोमांस की ऐसी कथा कहता है जो इस रचना को पाकेट बुक्स में छपने वाली एक सामान्य रचना बना देती है। आवश्यकता इस बात की है कि लेखक अपनी धरती और जन-जीवन के वैशिष्ट्य को मुखर करने वाले उपन्यास हमें दें।

कहानियों की तरफ देखें तो जम्मू-कश्मीर के लेखकों की रचनाओं में काफी विविधता दिखायी देती है। यह विविधता इस बात का परिचय देती है कि हर लेखक अपनी अनुभूति को व्यक्त करने में अपने आपको स्वतन्त्र मानता है; शिल्प के स्तर पर भी नया लेखक अपने आपको पूरी तरह से बन्धन-मुक्त मान कर कला के निखार को प्राप्त न कर पाये, यह बात दूसरी है।

जीवन की सामान्य स्थितियों का अंकन

एक बात बहुत सी कहानियों में सांझी है और वह यह कि लेखक साधारण दिखने वाली स्थिति को चित्रित करके उसमें निहित विशेषता उजागर कर देता है। हरिकृष्ण कौल की कहानी 'अगले दिन' में स्कूल में पिटने वाले पिछड़े बच्चों का मार्मिक इतिहास है तो निर्मल विनोद की कहानी 'एक और निर्णय[1]' में एक युवक लकड़ी के पार्टीशन के दूसरी तरफ एक निम्न मध्यवर्गीय पति-पत्नी का व्यवहार तथा वार्तालाप देखता-सुनता रहता है; छत्रपाल की कहानी 'छिटकी हुई इकाई[2]' में पिता की मृत्यु के बाद एक परिवार के सदस्यों की बदली मनःस्थितियों का अंकन है।

परिवेश के प्रति असंतोष

कुछ कहानियों में परिस्थितियों के प्रति असंतोष प्रकट हुआ है। यह असंतोष कहीं आक्रोश का रूप धारण कर लेता है तो कहीं समझौता करने की

---

१. खोया चेहरा, पृष्ठ ४

मजबूरी में ढल जाता है। जगमोहन की कहानी 'एक फैला हुआ बरगद एक घुटी हुई सांस'[1] में एक ऐसे नौजवान की प्रतिक्रिया है जो पिता के प्रभाव से मुक्त होना चाहता हैं। हरिकृष्ण कौल की कहानी 'भ्रातृघाती'[2] में एक भाई की मृत्यु के बाद दूसरे भाई को जो भूमिका निभानी पड़ती है, उसके कारण वह एक अपराध-भावना से ग्रसित रहता है तथा अन्त में टिप्पणी करता है—"सुना है, जिस किसी को इस प्रकार मारा जाता है, उसकी रूह बेगुनाह लोगों को भी कयामत तक परेशान करती रहती है।"

सामाजिक जीवन की विशिष्ट घटनाओं के दौरान वैयक्तिक भूमिका की तलाश

रमेश मेहता की कहानी 'सन्दर्भहीन'[3] में दवाइयों का युवा एजेण्ट सुबह उठकर हर तरफ हड़ताल देखता है। एकान्त में प्रेमिका के साथ बैठकर भी वह उस मन:स्थिति को बाहर धकेल नहीं सकता जो हड़ताल के कारण उसे मजबूरन भोगनी पड़ी है। रतनलाल शान्त की कहानी 'कर्फ्यू'[4] में मनुष्य की उलझनों का ऐसा ताना-वाना है जिस में से मुक्त होने की कोशिश वह सदा करता है लेकिन मुक्त हो पाना, शायद संभव ही नहीं है।

प्रतीकों का प्रयोग

कुछ लेखकों ने कहानियों में भी प्रतीकों का प्रयोग किया है। सुभाष शर्मा की कहानी 'सात पर्दों वाला गेंद' की ये पंक्तियां देखिये :—

"मैं जानता हूं, जेम्स का अधिकांश खाली समय इन गेंदों की तहें उधेड़ने में लग जाता है। सागर के किनारे इस पुराने सुनसान चर्च में वह अक्सर आता है। जेम्स ने यहाँ आकर कई बार गेंदों को उधेड़ा है……[5]।"

निर्मल विनोद की कहानी 'एक टुकड़ा चैन' का यह आरंभ भी द्रष्टव्य है—

"पिछले चार दिनों के पश्चात् आज पहली बार समुद्र के जबड़ों से केकड़े की तरह उछाल बाहिर कर दिया गया हूं……फफोलों से भरी जीभ बारूद से

---

१. प्रिज़्मों में बटी किरणें, पृष्ठ ६४
२. हमारा साहित्य १९७१, पृष्ठ १८१
३. प्रिज़्मों में बटी किरणें, पृष्ठ ४४
४. हमारा साहित्य १९७४, पृष्ठ ४१
५. देवदार की छाया तले, पृष्ठ ६३

कटी चट्टानों पर फेरते हुए मैंने महसूसा कि बीच पर बिछी चांदनी में नहाई ठंडी रेत पर सूरज अपनी किरणों के साथ छुट्टी मना रहा है[1] ।"

वैसे यह काफी सुखद अनुभव है कि लेखकों ने अपनी रचनाओं को अति प्रतीकात्मक होने से बचाया है और कहानी का कथानक स्पष्ट रह सका है ।

आंचलिकता

आंचलिक और भौगोलिक परिवेश के चित्रण में जम्मू के कहानीकारों की अपेक्षा कश्मीर के कहानीकार अधिक सजग रहे हैं । अशोक जेरथ 'एक बिखरी हुई शाम' में सागर-तट पर एक पर्यटक लड़की से मिलते हैं । लड़की रिमार्क कसती है —"इण्डिया में एक अजीब बात देखती हूं कि शादी से पहले प्रायः लड़का-लड़की एक-दूसरे को जानते नहीं—अगर यह सच है तो बड़ी अजीब बात है..... [2] ।" इस पर लेखक को याद आता है कि जम्मू में भी उसके साथ एक बार ऐसी घटना घटी थी । कश्मीर का परिवेश हरिकृष्ण कौल आदि लेखकों की कहानियों में है ही, अर्जुननाथ रैणा की कहानियां शिल्प और भाषा की दृष्टि से कमज़ोर होते हुए भी आंचलिक रंगीनी के कारण पाठकों को बांध लेती हैं । 'केसर के फूल' से एक उदाहरण देखिये :—

'पांपोर की भूमि घास से भर गयी । अपने-अपने केसर के खेत किसान पृथक न कर सके । शाबान ने सबसे पहले घास काट कर अपनी ज़मीन संभाली और सफाई से अपने खेत पृथक कर दिये[3] ।'

नगरीय और महानगरीय जीवन के चित्रण की ओर बढ़ता आकर्षण

आधुनिक हिन्दी कहानी में प्राप्त होने वाली नवीन बोध की विविध प्रवृत्तियां, यथा—अकेलापन, ऊब, वैयक्तिक टूटन—जम्मू कश्मीर के लेखकों की रचनाओं में भी परिलक्षित होती हैं । इन प्रवृत्तियों से जुड़ा हुआ लेखक अपने कथानक को दिल्ली जैसे महानगर की पृष्ठभूमि पर खड़ा करने में भी नहीं हिचकिचाता । रमेश मेहता की कहानी 'संदर्भहीन[4]' तथा ज्योतीश्वर 'पथिक' की कहानी 'बड़े शहर के लोग' इसी प्रवृत्ति की परिचायक हैं । श्रीमती राज

---

१. एक टुकड़ा चैन, प्रिज़्मों में बटी किरणें, पृष्ठ ५६

२. देवदार की छाया तले, पृष्ठ ८०

३. केसर के फूल, पृष्ठ ५

४. प्रिज़्मों में बटी किरणें, पृष्ठ ४०

भल्ला भी, अपनी कहानी, 'ये फाइलें और ये कतारें', में व्यस्त महानगरीय जीवन का चित्रण करती हुई कहती हैं :—

'कैसे समझाऊं तुम्हें कि महानगर की ज़िन्दगी फाइलों से निकलो तो कतारों में और कतारों से निकलो तो फाइलों में बंधी है। वहां किसे समय है कि सोचे, देखे और चले[1]।'

निबन्ध

निबन्ध के क्षेत्र में हमें बहुत सी ऐसी चीज़ें दिखाई देती हैं जो सृजनात्मक साहित्यिक निबन्ध न होकर आलोचनात्मक लेख भर हैं। डॉ० संसार चन्द्र की पुस्तक 'आकलन और समीक्षा' तथा डॉ० गंगादत्त विनोद की पुस्तक 'मतिमंथन'— ऐसे ही लेखों के संग्रह हैं।

जिन रचनाओं के कारण डॉ० संसार चन्द्र साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं, वे हैं उनके हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध। आमफ़हम भाषा उर्दू 'शे'रों' का प्रयोग इनके निबन्धों की विशेषता है। तंग जूते से आजिज़ आये लेखक को याद आता है—

'हुए हैं पांव ही पहले नबरदे इश्क में ज़ख्मी
न भागा जाय है मुझसे, न ठहरा जाय है मुझसे।'

सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम के कुछ निबन्ध भी इस प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। 'तिनके और तिनके' में संकलित अनेक निबन्धों के नाम इस सन्दर्भ में उद्धृत किये जा सकते हैं। आनन्दम स्वयं अपने पर भी व्यंग्य करने से पीछे नहीं हटता। 'कमीज़ का चक्कर[2]' शीर्षक निबन्ध में पुरानी कमीज़ के कारण सवारियां उसे कण्डक्टर और कुली समझ बैठती हैं और लेखक को मजबूरन नयी कमीज़ का प्रबन्ध करना पड़ता है। कुछ अन्य लेखकों ने भी इस प्रवृत्ति के निबन्ध लिखे हैं। शिव रैना के लेख 'जुल्फ घड़ी[3]' में ऐसी स्टेनो का वर्णन है जिसके माथे पर जुल्फें घड़ी की सूइयों के मुताबिक बदल कर साथी लोगों को वक्त बताया करती हैं।

व्यंग्य वही उत्तम समझा जाता है जहां वह किसी सामाजिक समस्या पर चोट करे ; आशा है, हमारे लेखक इस परम्परा को आगे बढ़ायेंगे।

---

१. हमारा साहित्य १९७३, पृष्ठ १३०
२. तिनके और तिनके, पृष्ठ ११-१७
३. मधुरिमा–४, पृष्ठ २८

नाटक

अन्त में एक पुस्तक नाटकों की—श्री मोती लाल क्यमू की रचनाएं—तीन असंगत एकांकी।

नाटकों की दिशा में हमारे प्रदेश का हिन्दी साहित्य बहुत कमज़ोर है। कुछ साल पहले आनन्दम की एक पुस्तक सामने आई थी—"कांप-कांप रहा चक्रबन्धु"। इसमें रेडियो की दृष्टि से लिखे काव्य-रूपक संकलित थे। वह पुस्तक अपनी परम्परा की अकेली कड़ी साबित हुई। 'तीन असंगत एकांकी' भी अपने ढंग की अकेली किताब है लेकिन मेरी दृष्टि में यह अकेली पुस्तक हिन्दी नाट्य-साहित्य में हमारा सिर ऊंचा उठा देती है। बहुत आसानी से इन नाटकों को ज्ञानदेव अग्निहोत्री और मुद्राराक्षस के नाटकों की टक्कर के नाटक माना जा सकता है। जीवन की असंगत स्थितियों से संगत निष्कर्ष निकाल कर क्यमू ने इन नाटकों को उद्देश्यपूर्ण बना दिया है। 'दर्पण अन्तःपुर का' नाटक में नाइयों द्वारा भूख हड़ताल कर देने पर राजा और महामन्त्री के संवाद इस प्रकार हैं :—

महामन्त्री—(सिर झुकाकर) महाराज आपकी आज्ञा है कि सारे राज्य में कोई भी आदमी दाढ़ी-मूंछ न काटे। अतः देश के सभी नाई बेकार हो गये। उन सब ने मिलकर भूख हड़ताल शुरू की है ....।

राजा—यह तो राजद्रोह है। उन्होंने भूख-हड़ताल किसकी आज्ञा से शुरू की ?

महामन्त्री—महाराज, भूख-हड़ताल के लिए मनुष्य ने आज तक किसी की आज्ञा नहीं प्राप्त की। भूख शाश्वत है, अमर है। जिस किसी ने जन्म लिया भूख ने साथ-साथ जन्म लिया। ··

नाटक के अन्त में रंगीला इस निष्कर्ष की घोषणा करता है—

"आओ हम भी जनता की इस अपार भीड़ में खो जायें। नहीं तो हम भी सभासदों की भांति पैरों तले कुचले जायेंगे।"

"संध्या बीती" में भी लेखक की प्रगतिशीलता प्रकट हुई है। नाटक के अंत में आसव का गूंगा हो जाना एक ऐसा हादसा है जिसमें हम सभी दुर्घटना-ग्रस्त हैं और 'नंगे' में सीखचों से बाहर हाथ उठाए कैदी की तरह किसी न किसी स्थिति में हम सभी चिल्ला उठते हैं—

'मुझे झूठ बोलने पर मजबूर न करो। मुझे छोड़ दो।"

१-२. तीन असंगत एकांकी, पृष्ठ १७, ३२

जम्मू और श्रीनगर जैसे नगरों में हिन्दी नाटक की सफलता की महान् संभावनाएं हैं, देखें कब कोई नया लेखक आगे बढ़ कर इन संभावनाओं का उपयोग करता है। सूत्र को ठीक वहीं से फिर पकड़ा जा सकता है, जहां तक क्यमू उसे पहुंचा चुके हैं।



समाहार करते हुए मैं कहना चाहता हूं कि हमारा लेखक जागरूक लेखक है, वह समय की गति के साथ चलना जानता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिजों पर हिन्दी का महत्त्व बढ़ रहा है। पुरानी इजारेदारियां चरमरा उठी हैं। ऐसे में हिन्दी के साहित्यकार को सुविधाएं तो मिलेंगी ही, उसकी जिम्मेदारी भी बढ़ती जायेगी। लेखक भाषा के माध्यम से अपनी मनचाही मूर्त्ति गढ़ता है इसलिए भाषा पर सशक्त अधिकार साहित्यकार की पहली अनिवार्य आवश्यकता है।

उसके सामने एक उज्ज्वल भविष्य है लेकिन इस भविष्य में अपनी भूमिका पहचानना और निभाना उसकी अपनी योग्यता पर निर्भर करता है।



डोगरी की औपन्यासिक यात्रा : फुल्ल बिना डाली के : विशिष्ट संदर्भ में

—ओम गोस्वामी

डोगरी में उपन्यास विधा केवल बीस वर्ष पुरानी है। अब तक इसमें आठ मौलिक[1] व नौ अनूदित[2] उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। 'चाननी दे चोर' ठाकुर पुन्छी के 'वादियां और वीराने' शीर्षक से मूलतः उर्दू में प्रकाशित उपन्यास का डोगरी रूपान्तर है। इसके अतिरिक्त धर्मचन्द्र प्रशान्त के 'रुकमणि' नामक उपन्यास की चन्द किस्तें 'रेखा' मासिक में निकल चुकी हैं। शरत् बाबू के देवदास का अनुवाद भी डोगरी मासिक 'फुलवाड़ी' में छपता रहा है। 'युद्ध और शांति' तथा इसी तरह की कुछ और अनूदित कृतियां प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के बांगला उपन्यास 'चोखेर बाली' का डोगरी अनुवाद जे० एण्ड कि० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, जम्मू के पास प्रकाशनाधीन है। कुछेक कथाकारों के पास मौलिक पांडुलिपियां भी मौजूद हैं परन्तु वित्तीय कठिनाइयों तथा पाठकों का अभाव होने से ये छप नहीं पा रहीं।

---

१. 'शानो', 'धारां ते धूड़ां', 'हाड़-वेड़ी ते पत्तन', 'फुल्ल बिना डाली', 'दरेड़', 'बदसीस', 'जिस एल्लै न्हेरा पेई आ', 'सांझी धरती बखले मानु'।

२. 'गोदान' (प्रेमचन्द), 'मृगनयनी' (वृ० व० लाल वर्मा), 'दौं टुप्पे धान' (टी० शिवशंकर पिल्लै), 'इक चादर मैली जनेई' (राजेन्द्र सिंह बेदी) तथा शरच्चन्द्र के पांच उपन्यास—'दत्ता', 'परिणीता', 'बत्तै दे दावेदार', 'लोरे' (गृहदाह) तथा 'श्रीकान्त'।

इस संक्षिप्त-सी उपन्यास यात्रा में हमें 'फुल्ल बिना डाली' का दूसरे उपन्यासों के संदर्भ में स्थान निर्धारित करना है।

प्रकाशन क्रम के अनुसार 'फुल्ल बिना डाली' डोगरी का चौथा उपन्यास है। इसके लेखक **श्रीवत्स विकल** ने डोगरी में छः कहानियां और चार कविताएं भी लिखी हैं जोकि 'कलमकार श्रीवत्स विकल' पुस्तक में संग्रहीत हैं। विकल के औपन्यासिक मूल्यांकन में उसकी ये कहानियां व कविताएं बेहद सहायक सिद्ध होती हैं।

कहानियों में विकल जीवन के तथ्यों को समझने का प्रयास कर रहा प्रतीत होता है—इसीलिये उसका नौसिखिया-पन इन छहों कहानियों में विद्यमान है। लेकिन चारों कविताओं में उसने आधुनिक जीवन की त्रासदियों को पूर्ण संवेदना के साथ समझाने की क्षमता दिखाई है। इसीलिये 'फुल्ल बिना डाली' में शाश्वत मानवीय अनुभूतियों का प्रकटीकरण दक्षता से हो पाया है। इस त्रिविध रचना-धर्मिता को इस पंक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—असफल कहानीकार+सफल कवि=भावुक उपन्यासकार। लेकिन उपन्यासकार विकल को बेहतर ढंग से समझने के लिये उसकी कहानियों का परिशीलन आवश्यक है, क्योंकि एक तरह से ये विकल साहित्य की मास्टर कुंजियां हैं। कहानियों में फिजूल का विस्तार है। कहानी कहने की कला नाम की कोई चीज इनमें उपलब्ध नहीं होती। कथ्य के स्तर पर उनमें बेहद नीरस ब्यौरे हैं। लेकिन उनकी भाषा सदैव पाठक को आश्वस्त करती है। वास्तव में ये कहानियां विकल की औपन्यासिक सामर्थ्य को अपनी संकीर्ण परिधि में बांधे हुये हैं।

'फुल्ल बिना डाली' के छप कर सामने आने पर तमाम डोगरी वाले भौंचक रह गए थे। एक सुगठित, सुललित, सुलिखित उपन्यास देखकर उन्हें विकल के बारे में बनी अपनी बंधी-बधाई मान्यताओं में परिवर्तन करने को बाध्य होना पड़ा था। 'फुल्ल बिना डाली' में विकल डोगरांचल के कुशल चितेरे और सूक्ष्मदर्शी समाज-विश्लेषक के रूप में उभरे हैं। इस उपन्यास में डोगरा जीवन के प्रामाणिक शब्द-चित्र उपलब्ध होते हैं। इसे पढ़कर यह धारणा पुष्ट होती है कि वास्तव में लेखक की छहों कहानियां ऐसे ही किसी उपन्यास के बीज थीं जिन्हें विकसित होने का मौका न मिल सका। अथवा एक वृहद उपन्यास की कांट-छांट करके कहानी बना देने के प्रयत्न में ही विकल कहानीकार के रूप में कोई छाप नहीं छोड़ पाये।

प्रेमचन्द के 'गोदान' के बाद तमाम साहित्य प्रेमियों को आशा थी कि अब भारतीय जीवन के और भी सशक्त महाकाव्य इस कथा ऋषि से मिलेंगे। ऐसी ही आशाएं डोगरी जगत को—बिना डाली का फूल—के सृजक से थीं। किन्तु समय—सीमा, आशा, अपेक्षा के बन्धन से परे है।

'फुल्ल बिना डाली' के बाद सन् १९७२ में तीन उपन्यास प्रकाशित हुये। वेदराही का—'दरेड़' (दरार), शकुन्तला शर्मा बीरपुरी का 'बदसीस' (श्राप) और पिशौरी लाल गुप्ता 'शरर' का 'जिस एल्लै न्हेरा पेई गेआ' (जब अंधेरा हो गया)।

उपरिलिखित सातों उपन्यासों के मूल स्वरों, उनमें निहित 'मोटिव' तथा कला स्तर की परख के लिये उनके प्रारम्भिक तथा अन्त के भागों पर दृष्टिपात करना चर्चा की सुविधा के लिये श्रेयस्कर रहेगा। उपन्यास का विकास उसके 'प्रारम्भ' पर निर्भर करता है और 'अन्त' में कथा-स्तर पर उठाई गई समस्याओं का समाधान दिया जाता है। रचयिता रचना की 'शुरुआत' तथा 'समाप्ति' के लिये अपनी प्रतिभा का भरपूर उपयोग करता है। अतएव इन उपन्यासों को इसी दृष्टि से देखना युक्तिसंगत होगा।

शानो (नरेन्द्र खजूरिया) की शुरुआत प्रकृति के सौंदर्य-वर्णन से हुई है। एक ओर चित्त बांधने वाला प्रकृति-चित्रण है तो दूसरी ओर शंकर की जोखिमों भरी संघर्ष-गाथा। नायक शंकर लंगड़ा होकर लौट रहा है। जीवन की पेचीदगियों से वह कैसे निपटेगा—ये प्रश्न पाठक के मन में उभारा गया है। प्रथम अध्याय से ही इस बात के संकेत मिलने लगते हैं कि इन पहाड़ों में जीवन अनेक तकलीफों से घिरा हुआ है। वहां मुसीबतें हाथ पसारे शंकर की प्रतीक्षा कर रही हैं। आगे चलकर प्रकृति चित्रण शंकर-शानो के संघर्षों की पृष्ठभूमि में आलम्बन-उद्दीपन भाव से हुआ है।

दिल्ली स्टेशन वाली घटना को शांति व बेबी से जोड़कर घटना-क्रम उस बिन्दु पर पहुंचता है जहां उसे समाप्ति की ओर मुड़ना है। प्रकृति के उपमानों का प्रतीकात्मक एवं लाक्षणिक प्रयोग सारे उपन्यास में हुआ है- जैसे—'दुनिया च नमा ध्याड़ा चढ़ना', 'न्हेरा रौह्ना', 'प्हाड़ परतोना', इत्यादि। उपन्यास का अन्त इस तरह होता है—बत्त हून चनैन ही। यह आशावादी अन्त है। गांव में अभी अंधेरे के सांप फुंकार रहे हैं, लेकिन शंकर के पास नयी सोचों की जलती हुई मशाल है।

हाड़, बेड़ी ते पत्तन (वेद राही) का आरंभ—दीग्रा स्हिलै करदा हा—इन शब्दों से हुआ है। बुझता दीपक एक ओर 'माया' की प्राण-ज्योति बुझने का संकेत है तो दूसरी ओर अनजान बालक 'रणू' के गिर्द मंडलाते अधेरों को रूपायित करता है। अंधकार के खिलाफ लड़ी जाने वाली लड़ाई, अन्तर्द्वन्द्वों तथा टकरावों को जन्म देती है। इससे कथानक काफी व्यापक हो गया है। परन्तु पूरे विस्तार को लेखक ने जल्दबाजी में अन्त के अढ़ाई पृष्ठों में समेटा है। लेखक के दूसरे उपन्यास 'दरेड़' का अन्त इसके प्रारम्भ की भांति ही स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। उपन्यास का शीर्षक भी अन्त के मनोभावों की वजह से ही सार्थक हो पाता है—जहां कि लाजो और ध्यानसिंह के परस्पर सम्बन्धों में संदेह की दरारें उभर आती हैं। ये दरार स्थूल न होकर सूक्ष्म है। अन्त कलात्मक है तथा 'हाड़, वेड़ी ते पत्तन' के अन्त से कहीं अधिक सुलझा हुआ भी।

'धारां ते धूड़ां' (मदन मोहन शर्मा) के पहले अध्याय में मज़दूरों पर मेट की डांट-डपट और रसालसिंह की तीखी प्रतिक्रिया भावी संघर्ष की सूचना देती है। बदले परिवेश में सामतवाद पूजीवाद की खाल ओढ़ कर प्रकट हुआ है। यथास्थिति को बर-करार रखने के लिये उसने अब भी पालतू भेड़िये पाल रखे हैं। मेट का ये कथन बेहद मानीखेज़ है—अज्ज नईं रेह् राजे ते तुसें कम्मियें च बी आकड़ आई गेई ऐ··· । कथानक का विकास कामगारों-असामियों और सामंतों के मध्य निरंतर टकरावों से होता है।

इसका अन्त उस लोक-कथा की तरह बनावटी है जिसमें 'लाल परी' को मुक्त करवाने राजकुमार का सेनापति राक्षस के दुर्ग में घुस जाता है। राक्षस उसे काट खाता है, पर सेनापति मरते-मरते भी अपनी तलवार का जौहर दिखाकर राजकुमार का रास्ता निष्कंटक बना देता है। लेखक के अपने शब्दों में—'कहानी में प्रचारात्मक अंश आ जाने से और अंत की नाटकीयता के कारण—'धारां ते धूड़ां' को एक श्रेष्ठ रचना नहीं कहा जा सकता'। इसका अंत भी 'शानो' की तरह अंधेरा खत्म होने का दिलासा देता है। नत्थू को आशा है—लो होने गी हून मता चिर नईं रेह्दा। प्हाड़ें दे बच्चे हून रुलङन नईं।

बदसीस (शकुन्तला शर्मा 'बीरपुरी') के पहले अध्याय में 'शकुन' के किसी जमाने के प्रेमी 'वेद' का एक्सीडेण्ट होता है। दूसरे अध्याय में अस्पताल का वर्णन है, जहां शकुन डाक्टर है। आगे 'पूर्व-दीप्ति' में 'प्लेटॉनिक' प्यार, फिल्मी कौल-करार और दहेज आदि की सिनेमाई रुकावटें हैं। कहानी पाठक को बांध रखने में सफल नहीं हो पाती। वेद शकुन को धोखा देकर सतीश से ब्याह कर

लेता है। शकुन जले कलेजे से उसे बदसीस दे आती है—जोकि दुर्वासा के श्राप की तरह अपना प्रभाव दिखाती है। वेद धीरे-धीरे पागलों-सी दशा को प्राप्त हो जाता है, उसका मन उसे कचोटता रहता है। तब वह अस्पताल में आंखों पर पट्टी बांधे हुए ही शकुन की तस्वीर बनाता है। उपन्यास का प्रारम्भ सहज होने पर भी इसका अंत स्वाभाविक नहीं बन पाया। घटनाओं को मनचाहे ढंग से तोड़ा-मरोड़ा गया है। अन्तिम अध्याय की शब्द-चित्रावली प्रभावशाली है।

बदसीस की तरह **'जिस एल्लै न्हेरा पेई गेम्रा'** (पिशोरी लाल गुप्ता 'शरर') में भी समाज का नाम लेकर उसे लानतें भेजी गई हैं। आदि से अंत तक प्रकृति का चित्रण जीवन की धड़कनों की पृष्ठभूमि में नहीं बल्कि सौंदर्य की स्वतन्त्र सत्ता के रूप में किया गया है। 'शानो' और 'धारां ते धूड़ां' के नायक की तरह इसका नायक भी पेंशन पर घर लौटता है। शंकर की तरह इस पर भी पहले ही अध्याय में आसमान उलटता है। इसकी मां मर जाती है। 'जिस एल्लै न्हेरा पेई गेआ' का अन्त शामू की आत्महत्या से होता है—क्योंकि उसका प्यार २८० रुपयों में नीलाम हो गया था। मालती किसी और की हो गई थी। अन्तर्द्वन्द्वों में डूबा शामू बाढ़ आई नदी में कूद कर प्राण दे डालता है। अस्वाभाविक होने पर भी अंत सराहनीय है।

'फुल्ल बिना डाली' (श्रीवत्स 'विकल') के पहले अध्याय में सोमा का बारिश में छत के सुराख मिट्टी से बन्द करने का यत्न आगे आने वाली बिपदाओं की सूचना देता है। ज़िन्दगी भर सोमा ऐसे कई सुराख भरने में व्यस्त रहती है, उस पर सदैव किसी न किसी मुसीबत का साया मंडराता रहता है और यह सब सोमा के साथ ही समाप्त होता है। डाक्टर की इस चेतावनी के बाद कि आगे से मातृत्व धारण करना उसके लिये भयानक हो सकता है—वह स्वदेश के लिये गर्भ धारण करके मानो मृत्यु का वरण करती है। सोमा, फूल (उसका नाम सुमन है) को जन्म देकर पेड़ की डाली की तरह टूट जाती है। स्वयं भी सोमा ऐसा फूल है, झंझावातों ने जिसे जीवन की डाल से गिरा कर ही चैन लिया। उपन्यास का अन्त स्वदेश की डांवाडोल स्थिति से होता है।

ये सातों उपन्यास सामाजिक विषय-वस्तु पर आधारित हैं और सातों में आश्चर्य की सीमा तक कथ्य-साम्य दिखाई देता है। इसका कारण शायद यह है कि ये सभी अपने अंचल के धरातल से जुड़े हुए हैं और यहीं की जीवन-अनुभूतियों से अनुप्राणित हैं। फिर भी प्रथमतः चर्चित चार उपन्यासों में कृत्रिमता किसी न किसी स्तर पर विद्यमान है। समस्या कथानक से न उभर कर स्पष्टतया लेखक

की ओर से आरोपित करदी जाती है, अथवा लेखक जानबूझ कर विषयांतर कर जाता है। इस दृष्टि से 'फुल्ल बिना डाली' अधिक प्रामाणिक व अनुभूत जीवन-यथार्थ की झलक देता है। इसमें गुणावगुण लेखक की ओर से बलात् थोपे नहीं जाते बल्कि वे घटनाक्रम एवं स्थितियों से स्वतः उपजते हैं। इनकी संगतता मानवीय स्वभाव के अनुकूल होती है।

निम्न मध्यवर्गीय एवं मध्यवर्गीय मानसिकता को उपन्यास में सफलता से उरेहा गया है। लड़की के लिये अतिरिक्त आमदनी वाला वर ढूंढने वाले लोग नहीं सोच पाते कि भ्रष्टाचार की कमाई करने वाला पात्र संभवतः उनकी कन्या के लिये अच्छा पति प्रमाणित न हो पाए। साधारण जन के आचरण को विकल ने बिना दुराव-छिपाव के प्रस्तुत किया है।

परन्तु हरेक पात्र का घनिष्ठ परिचय देने के मोह में कथानक की रवानी में व्यवधान पड़ जाता है। लेकिन कमज़ोर कथानक के स्थलों को लच्छेदार भाषा ढांपती चलती है। 'विकल' का सहृदय कवि इस उपन्यास के प्रत्येक स्थल पर मौजूद है और जहां कहीं कहानी लड़खड़ाने लगती है वहीं उसे उबार कर आगे ले चलता है। इसकी भाषा जहां ठेठ डोगरी का ठाठ प्रस्तुत करती है वहीं इसे कथात्मकता की दृष्टि से लचर स्थल छिपाने के लिये भी प्रयुक्त किया गया है। निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा इस उपन्यास की विशिष्ट-शक्ति (vital force) है। अतएव इसपर अधिक ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

मानव मन की गहन बारीकियां और देहाती (संस्कारी) डोगरा घरों के सही वातावरण के चित्रण को इस उपन्यास की विशेषता माना जा सकता है। लेखक की शब्द-सामर्थ्य भी ध्यान आकृष्ट करती है। उपन्यासकार को ये प्रयास करते देखा जा सकता है कि एक संदर्भ में प्रयुक्त शब्द विशेष को दोबारा प्रयोग में न लाया जाए। परन्तु जब वह सांकेतिकता के स्थान पर विवरणात्मक शैली अपना लेता है तो आगे बढ़ रहा कथानक एकाएक पीछे मुड़ने की गवाही देने लगता है। ऐसे अनेक स्थल आते हैं। जैसे—**'उसगी गरदौरनी थुआं स्हारा मिलेआ'...'थोड़ा स्हारा मिलेआ उसगी गरदौरनी थुआं।** (पृ० २०)

वाक्य-विन्यास की बानगी बोलचाल वाली डोगरी पर आधारित है। मुहावरे मानो जड़े गए हैं। वाक्य 'द्वन्द्व समास' से लदे हैं। जैसे—

१. **उनेंगी नुहाली-धुआली, बनाई-चनाई स्कूलै गी भेजदी।** (पृ० ४२)

२. **उसदा बौन-खड़ोन, बोलन-चालन, कम्म-काज, ढंगै-सलूकै दा ऐ।** (पृ० ४३)

३. सोमा दा खान-लान, बौन-खड़ोन, गल्ल-कत्थ, कम्म-काज सब्बै किश उसी रड़कदा। (पृ० ५५)

४. ख्यालें च हारी-शंगारी दी गुच्छु-मुच्छु होई बेई गेई। (पृ० ७८)

५. उत्थुआं दे लोक उसगी ओपरे-जन लगदे हें तो फी उनें लोकें कन्नें गै राह-बाह पेआ तां उन्दे कन्ने रली-मिली गेई।

दो सन्धियों वाले 'अव्यय समास' भी वाक्य संगठन को डोगरेपन से मण्डित करते हैं—'सस्सू दे कन्न भरी-भरी, बकाई-बकाई फुलाई उड़ेआ'।

शब्द-चयन चित्रांकन की सामर्थ्य रखता है। स्थिति को तस्वीर का आकार देने में लेखक पूर्णतया सफल रहा है। हां, किन्हीं स्थलों पर ज्यादा गहनों से लदी तन्वंगी की तरह इसका प्रकृत सौंदर्य मद्धिम पड़ने लगता है।

भाषा में मुहावरों की बहुतायत के लिये ये अनुच्छेद दर्शनीय है—

जठानी दियां कमान्नियां सै कसोई दियां गै रौहन्दियां न। जठानी छड़ी सरीकियां करदी ऐ—पैन्ने तीर खोबदी ऐ। सोमा ने डोर परमेसरा पर सुट्टी उड़ी। उसदा स्वातम गै देश्रा ऐ। उसदा भाएं कोई किन्ना बुरा चतेयै पर ओ कुसा दा बुरा नई चतेन्दी। फी श्रो इन्ना बी जानदी ऐ जे सारे दिन इक नेह् नि होन्दे।

इसे डोगरी गद्य के श्रेष्ठ नमूनों में रखा जा सकता है। कमान्नियां कसोनियां, सरीकियां करना, पैन्ने तीर खोबना, डोर परमेसरै पर सुट्टना, सारे दिन इक्कै नेह् नईं होने—ये कथन वक्रता के ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें विकल की भाषिक सम्पन्नता के प्रमाण माना जाना चाहिये। गद्य के बेजोड़ नमूने 'फुल्ल बिना डाली' में और भी बहुत हैं। बृज श्रौर सोमा की मृत्यु का चित्रण किसी भी सहृदय को रुलाने में समर्थ है।

डोगरी के तमाम मौलिक उपन्यासों में स्त्री पात्रों को प्रमुखता से चित्रित किया गया है। 'शानो' की शानो, 'धारां ते धूड़ां' की कमलो, 'हाड़, वेड़ी, पत्तन' की कुन्तो, 'बदसीस' की शकुन आदि इस जुझारू मनोवृत्ति की वाहक हैं। वे अपने कठिन संघर्षों में अन्ततः सफल होती हैं। परन्तु 'फुल्ल बिना डाली' की नायिका सोमा को सफलता के एवज में प्राण त्यागने पड़ते हैं। डोगरी उपन्यासों के स्त्री पात्रों में सोमा का चरित्र अविस्मरणीय है।

सोमा के माध्यम से विकल हर समाजी चलन पर टिप्पणी करता चलता है, मानो अपने ही संघर्ष की व्यथा सुना रहा हो। मदाम बावेरी के लेखक फ्लाबेयर

की तरह विकल अपनी नायिका के चरित्र की भीतरी तहों तक पैठ गया मालूम पड़ता है। मदाम बावेरी की आत्महत्या का प्रसग सोचते वक्त फ्लाबेयर के जिस्म पर जहर खाने के लक्षण स्वयंमेव उभर आए थे। सम्भवतः पात्र के दर्द को इतनी तीव्रता से महसूसने के कारण ही विकल की परिणति सोमा-सी हुई है।

'फुल्ल बिना डाली' अपने से पहले और बाद में छपे तमाम उपन्यासों से बढ़-चढ़ कर है। यहां स्मरण रखना होगा कि श्रीवत्स विकल हिन्दी और डोगरी दोनों भाषाओं में लिखते थे। डोगरी को उसकी देन अपेक्षाकृत नगण्य होते हुए भी अधिक महत्वपूर्ण है ; इसे चिरस्मरणीय उपन्यास देकर विकल ने अपने लिये अप्रतिम स्थान सुरक्षित कर रखा है। इसी एक कृति के बूते पर उसे डोगरी का शरत् कहा जा सकता है। 'फुल्ल बिना डाली' पर शरत्चन्द्रीय जीवन दृष्टि का प्रभाव एक अलग लेख का विषय है। विकल कृत 'मंझली दीदी' का डोगरी अनुवाद अप्रकाशित है।

साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत 'फुल्ल बिना डाली' डोगरी के मौलिक उपन्यासों में एक बेजोड़ स्थान रखता है।

●

आधुनिक हिन्दी और पंजाबी कविता

—प्रो० देवेन्द्र सिंह

इससे पूर्व कि मैं आधुनिक हिन्दी तथा पंजाबी कविता के विषय में कुछ भी कहूं, मेरे लिये, आधुनिक शब्द विषयक कुछ जानकारी देना अनिवार्य हो जाता है। किंतु कठिनाई यह है कि आधुनिक क्या है और क्या नहीं ?—इस बात का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया। मुझे, कम-से-कम, इतना ज्ञात है कि इस संबंध में पंजाबी में कोई ठोस निर्णय नहीं हो सका, हालांकि आधुनिकता विषयक कई फुटकर लेख मेरी नज़र से अवश्य गुज़रे हैं। अन्य भाषाओं में—जिन से मैं अपरिचित हूँ— इस दिशा में कुछ विशेष प्रगति हुई हो तो मैं कह नहीं सकता। इसलिये, इस समस्या का समाधान खोजना मेरे लिये कठिन ही रहा है। आइये, कतिपय बिन्दुओं के आधार पर आधुनिकता को समझने का प्रयास करें।

सर्वप्रथम, यदि कोई आधार हो सकता है, तो वह काल सीमा संबंधी है। अर्थात्, पुरातन एवं अर्वाचीन में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जाय, जिससे हम, यह दावे से कह सकें कि अमुक समय से पहले का पुरातन और बाद का आधुनिक है। इस प्रकार, आधुनिकता का सबसे महत्वपूर्ण पहलू समय या काल हो जाता है, किंतु अतीत को मिटा कर आधुनिकता के 'कन्सेप्ट' या बोध को हृदयंगम करना बड़ा ही कठिन प्रतीत होता है। इसलिये, आधुनिकता को निश्चित रूप से परम्परा एवं परम्परावाद के संदर्भ में ही जाना जा सकता है। अतः गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो वर्तमान एवं अतीत के भेद को ही आधुनिकता की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। अभिप्राय यह कि हमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियों अथवा तत्त्वों की खोज करनी होगी जो आधुनिकता से परंपरा को अलग करते हैं। आधुनिकता ने किन-किन पारंपरिक तत्वों का परित्याग किया है

अथवा किन-किन को संभाले रखा है—हम इसी आधार पर जान सकेंगे। किंतु क्या परंपराविहीन आधुनिकता, 'आधुनिक' कहला सकती है? मेरा विचार है—कदापि नहीं। परंपरा एवं आधुनिकता दोनों अविछिन्न हैं एवं दोनों को एक-दूसरे के संदर्भ में ही जाना जा सकता है। इसलिये, आधुनिकता एवं परंपरा दोनों को भिन्न करना असंभव प्रतीत होता है। यों, समस्या काफी उलझ जाती है और लगने लगता है कि यह कभी सुलझ ही नहीं सकती। हमारा विश्वास है कि आधुनिकता में परंपरा की अप्रत्यक्ष निहिति निश्चित रूप से होती है। वह अपना स्वत्व गंवा कर आधुनिकता में इस प्रकार घुल-मिल जाती है कि उसका (आधुनिकता का) स्वतंत्र अस्तित्व क्षीण नहीं हो पाता। अभिप्राय यह कि आधुनिकता का अर्थ परंपरा से मुक्त होना कदापि नहीं। ऐसा करना बहुत कठिन है। अतः आधुनिकता से हमारा अभिप्रेत है—नूतन भाव-बोध। विचार पुराने भी हो सकते हैं और नए भी, किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि कोई उन विचारों को आधुनिक रूप किस प्रकार प्रदान करता है! इसलिये, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक व्यक्ति परंपरावादी था; अतः, आधुनिक नहीं हो सकता अथवा वह आधुनिक है इसलिये परंपरावादी नहीं हो सकता। दोनों बोध संग-संग चलते हैं।

आधुनिकता की इस संक्षिप्त जानकारी के पश्चात्, मैं अपने लेख की सीमाओं का निर्धारण करना चाहूँगा। कारण है, मेरी कतिपय विवशताएं। पहली बात तो यह है कि जम्मू-कश्मीर के पंजाबी-हिन्दी-साहित्य का कोई धारावाहिक इतिहास प्राप्य नहीं, इसलिये, कवि-जनों के क्रम में, निश्चित रूप से, अंतर आ सकता है। दूसरी यह कि बहुत से कवियों की रचनाएं कम संख्या में उपलब्ध हुईं; जिनके आधार पर सही मूल्यांकन संभव नहीं था। फिर भी, मुझे जो बात स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई, मैंने उसके प्रकटीकरण में संकोच नहीं किया। अंतिम बात यह कि कई कवि मेरी दृष्टि में नहीं आ पाए। इसलिये, हो सकता है कि उनके नाम इस लेख में सम्मिलित न हों; परन्तु मैं विवश हूं। अस्तु! अब आइये, पंजाबी एवं हिन्दी कविता के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर दृष्टिपात करें।

जम्मू-कश्मीर की हिन्दी एवं पंजाबी कविताओं के सर्वेक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों भाषाओं की कविता में आधुनिकता के अंश अवश्य मिलते हैं, यद्यपि, दोनों भाषाएं किन्हीं निजी परिस्थितियों के कारण पिछड़ेपन का शिकार हैं। हिन्दी, मुख्यतः अंतर्राष्ट्रीय भाषा होने के कारण अपना 'दबदबा' बनाए हुए है, जबकि पंजाबी का कुछ जन्मसिद्ध अधिकार रियासत में इसे जीवित

रखे हुए है। यहां, दोनों भाषाओं की स्थिति लगभग समान है। इसलिये, दोनों भाषाओं के लेखक, निजी परिस्थितियों के कारण, अपने पुराने विरसे से टूटे-से रहे हैं और दोनों भाषाओं में आधुनिकता-बोध भी कुछ अंतर से प्रवेश करता है।

आधुनिक कविता में दिखाई पड़ने वाली सर्वप्रमुख बात मानववादी चेतना-सम्बन्धी है। वस्तुतः, मनुष्य, समाज का शक्तिशाली 'पात्र' मात्र नहीं। तथ्य तो यह है कि उसके बिना, समाज के अस्तित्व की कल्पना करना ही विचित्र-सा प्रतीत होता है। सांसारिक घटनाक्रम में उसका महत्व असंदिग्ध है। अतः, आधुनिकता-बोध में मानववादी चेतना की अंतरनिहिति स्वाभाविक ही है। इस प्रकार, साहित्य-सृजन में मनुष्य के अस्तित्व का व्यापक महत्व निश्चित है। कवि कई बार 'मैं' की बात करते हुए भी—परोक्ष रूप से—मानव-चेतना का आभास करवाता है। यद्यपि, पूर्ववर्ती समाज और साहित्य में मानव-चर्चा विस्तारपूर्वक हुई है, तथापि, उसके 'स्व' का अस्तित्व नहीं मिलता। वह प्रायः परतंत्र है। परन्तु मज़े की बात यह है कि वह 'स्व' गंवा कर भी समाज में विचरता और परतंत्रता के जीवन को सहर्ष स्वीकार करता है। समकालीन समाज की भांति पुरातन समाज में भी विवशताएं थीं। उसके जीवन में दुःख थे, निर्धनता थी···और इसी रूप में वह अपना जीवन व्यतीत करता था। पर इन सभी दुःखों का कारण पूर्व के जन्मों का पाप था ; दुःख-दर्द केवल दैवी प्रकोप था। अतः, पापाग्नि में झुलसना उसके जीवन का अनिवार्य अंग था, किंतु आइन्सटाइन, कार्लमार्क्स, फ्रायड के सिद्धान्तों के कारण मानव-चेतना विकसित हुई और मनुष्य को उस चेतना का ज्ञान हुआ ; अंततः, उसका यह ज्ञान ही काव्य-चेतना का शक्तिशाली अस्त्र भी बना। अब यह विचार कोई महत्व नहीं रखता कि मनुष्य को, स्वर्ग से, उसके पापों के कारण ही धकेल दिया गया था और अभी तक वह नरक की आग में झुलसता चला आ रहा है। आधुनिक बोध के अनुसार, मनुष्य दुःख-दर्द, पीड़ा, गरीबी, गुलामी आदि के लिये संघर्ष करता है और ऐसे संघर्ष से उसकी आत्मिक शांति भंग नहीं होती। किसी-न-किसी रूप में, संघर्ष का यही आधुनिक बोध काव्य में प्रगतिवाद का बोध बन जाता है। वह अपनी विवशताओं के लिये संघर्ष करता है और इसे (संघर्ष को) अपना अधिकार समझता है। आधुनिक हिन्दी और पंजाबी कविता में, इस संबंध में स्थान-स्थान पर चर्चा मिलती है। इसीलिये, सुभाष भारद्वाज कहने का साहस करता है—

झूठा है
सुबह का यह सूरज
क्योंकि
मुझे इसने आज तक
कभी रौशनी नहीं दी
रौशनी !
जिसकी मुझे
जन्म-जन्म से तलाश है ।[1]

इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य प्राय: निराश है, परन्तु आधुनिकता इस निराशा में नई दिशा प्रदान करती है। मनुष्य ने सौ प्रकार का विलाप किया, प्रार्थनाएं कीं, परंतु उसे कहीं से कोई 'हुंकारा' प्राप्त नहीं हुआ…

असां लक्खां कीरने पाये, अंबर चुप रिहा
असां रो-रो हाल गंवाए, अंबर चुप रिहा[2]

किंतु आधुनिक-बोध मनुष्य को सचेत करता है कि यह विलाप या आंसू उसकी समस्याओं का हल नहीं हैं और इसीलिए, वह सोच में डूब जाता है…

अजीब किनारे पर आ पहुंचा हूं
इस पार दलदल है
उस पार दलदल है
कुछ और आगे
मौत की गहरी खाई है
ऊपर कुहासे से भरा आसमान,
पीछे मुड़ना मेरी हार है
घुटनों तक दलदल में फंसा
सोचता हूं…[3] —(डॉ० ओम प्रकाश गुप्त)

…और मनुष्य अतीत की लपेट में इस प्रकार आ चुका है कि उसके लिये जीना दूभर-सा हो गया है—

---

१. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे
२. सपनमाला, 'अंबर चुप रिहा'
३. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे

साडा जहन कोह्ड़ी है—
टी० बी० नसां विच खब गई
घातक हां अपने-आप दे
आदर्श दे विश्वास दे
जिंदड़ी असाडी डुब गई[४]

इसलिये साफ है कि हिन्दी-पंजाबी के बहुत से कवि आधुनिक मानव-चेतना के बोध से सचेत हो गये हैं। सुभाष भारद्वाज, डॉ० ओम प्रकाश गुप्त, ज्योतीश्वर 'पथिक', सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम्', रमेश मेहता, 'निर्मल' विनोद, उषा व्यास 'छवि', अशोक जेरथ और सपन माला, उजागर सिंह 'महिक', मान भार्गव, डॉ० जंग बहादुर, अमरीक सिंह 'सुक्ख', अमरीक सिंह 'साथी' आदि, इस पंक्ति में सम्मिलित हो जाते हैं; परंतु यहां यह उल्लेखनीय है कि जम्मू-कश्मीर के हिन्दी कवि मानव-विद्रोह को खुलकर प्रकट नहीं कर पाये,[५] जबकि पंजाबी कवि इस विद्रोह की बात खुल कर करते हैं। हिन्दी में ऐसी झलकियां, कहीं-कहीं देखी जा सकती हैं, किंतु पंजाबी में यह प्रभाव चरमसीमा पर है; यद्यपि, सपनमाला सरीखे कवि परंपरावाद से आगे बढ़कर बगावत, संघर्ष और इन्कलाब की राह परोक्ष रूप में ही दिखाते हैं।[६]

मान भार्गव, डॉ० जंग बहादुर, उजागर सिंह 'महिक', अमरीक सिंह 'सुक्खी', अमरीक सिंह 'साथी', हरदीप कौर 'दीपक' आदि में यह लक्षण काफी उभर कर सामने आया है। यहां, कुछ उदाहरण देना समीचीन रहेगा···

किस हाल जीवे ते किस हाल मरे ?
तरस खा के कहन गे बेशक
इस दोगली पीढ़ी दे लोक
पर है विश्वास सानु
संघर्ष विच जींदे ते संघर्ष विच मरांगे।

अथवा—

---

४. जंग बहादुर, 'खंडरां दा शहर'
५. डॉ० ओमप्रकाश गुप्त के लेख 'जम्मू कश्मीर में हिन्दी साहित्य की नयी प्रवृत्तियां' से उद्धृत।
६. दलजीत सिंह, 'हीमाल' (अंक ९-१०)।

सड़ गये कण्डे हुन
पूरो-पूर नीं !
पुट्टो वे पुट्टो जड़ों रेहियां झाड़ियां
पहलां वांग पोंगरना करनकारियां
जंगली अग्ग जित्थे लग जाँदी ए
सड़दा पुराना नवीं पौद आंदो ए ।[७]

अमरीक सिंह सुक्खी में तो यह लक्षण और भी उभार पर है ; यद्यपि, उसे इस वाद से नहीं जोड़ा जा सकता । उसकी काव्य-सर्जना का आधार प्रायः रोमांस ही रहा है । फिर भी, एक बानगी देखिए—

अगरबत्ती सड़दी है
पर महिक तां सड़दी नहीं
संघर्षशील जो सदा रहिंदा
ओ ज़िन्दगी मरदी नहीं ।[८]

और डॉ० जंगबहादुर तो स्पष्ट कहता है कि इन्कलाब के विरोधी आपको भरमाएंगे ; सचेत रहना—

मैले-कुचैले लीड़ेआं नूं ला देओ
समाज नूं विद्रोह करो—लताड़ लो
मील-पत्थर नें भुलेखे दे लई
मंज़िलां ने गल्त दसी जा रहे
विंगिआं राहां दे टपले दे रहे
ते एनाँ ते ख़ूब हस्सी जा रहे ।[९]

इसी रंग को हिन्दी कवियों में भी देखिए—

किरणों को निगल जाती है
कांटेदार जहरीली जीभ
लोहे के नथुने उगला करते हैं—
जहरीली आग ;
फूल की हर पांखुरी झुलस जाती है,

---

७. मान भार्गव, 'संघर्ष' ।
८. अ० सिं० सुक्खी, 'सतवीं रुत्त'
९. डॉ० जंगबहादुर, 'खंडरां दे शहर'

धूल में बिखर जाती है—
तितली के पंखों की राख
ज़ालिम का नशा
रह-रह कर
चिघाड़ उठता है
इन्सान के मन में
जब कभी एक नया सूरज उगा करता है।[१०] (—डॉ० ओम प्रकाश गुप्त)

एक युवा कवि का कहना है—

खण्डहरी इतिहास के मलबे-तले
क्यों सिसकती रहे पीढ़ी आज की ?

भूख से मारी हुई जनचेतना
क्यों करे चिंता किसी के ताज की ?
टूटते हैं तख्त तो टूटें, उड़ें
ध्वंस क्या जाने ?—करीने की कला[११]

इस दृष्टि से, मुझे, रमेश मेहता की निम्नलिखित पंक्तियां भी खूबसूरत लगी हैं—

नये औज़ारों से
भट्ठियों में पिघलाना होगा फौलाद
क्योंकि
पुरानी कलम की सभी तस्वीरें
दीमकों ने खा डाली हैं।[१२]

इस प्रकार, आधुनिक काव्य में मानव-चेतना का एहसास बड़ा शक्तिशाली हो गया है। इसी संदर्भ में फ्रायडियन बोध की कुछ बातें भी मिलती हैं। हिन्दी और पंजाबी काव्य में ऐसे उदाहरण ढूंढना कठिन नहीं। फिलहाल, दोनों भाषाओं के एक-एक कवि को लेकर उनकी कुछ पंक्तियां उद्धृत कर रहा हूं। 'निर्मल' विनोद की 'प्रतीक्षा' में से कुछ पंक्तियां देखिए—

---

१०. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे।
११. 'निर्मल' विनोद, 'पत्थरों का दरिया'
१२. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे

इस कच्ची उम्र में
मैंने कुछ ऐसे काम किए हैं
जिन्हें शब्द देते
मैं लजा जाता हूं
और जब कभी
गगन की नीलिमा
को अपने वस्त्रहीना होने का बोध होगा
धरा पर गिरे अपने आभरण
संजोने
जब वह नीचे झुकेगी,
उसी क्षण
उसके अधरों पर
गुलाबी रंग पोत दूंगा
और उसका कर्मासन सौंदर्य
मेरा होगा
यथार्थ में
मेरा होगा[13]

भूपेन्द्र सूदन के शब्दों में—

हां ए सच है
मैं कदी पेट'च वी
जम के नहीं टिकिआ
पर साफ गल्ल दस्सां
अपने पिओ दा
किसे नूं वी नईं पता

अथवा

पर हर चीज
तेरी हवस तक ही नहीं
पिंड तों अगे शहर है
ते शहरों अगे
होर कुज वी ।[14]

---

१३. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे ।

१४. (सं०) भूपेन्द्र सूदन, 'चिट्टे काले बाल'

आधुनिक काव्य में प्रतीकात्मक अभिव्यंजना को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह कोई नवीन बोध नहीं। काव्य में इसकी उपस्थिति आरंभ से ही देखी जा सकती है। वस्तुतः, कविता प्रतीकों का खेल ही तो है। सीधी-सपाट बयानी कविता का स्वभाव नहीं। पुरातन काव्य का मुख्य लक्षण श्रोताभिमुखता है, जबकि आधुनिक काव्य इस कसौटी पर कम ही पूरा उतरता है। इधर, मेरी नजर से, डॉ० ओम प्रकाश गुप्त का एक लेख गुज़रा है—"नई कविता किस ओर"।[१५] विद्वान लेखक को नई कविता से, सबसे बड़ा गिला यही है कि यह पाठक से बहुत दूर है। मेरी दृष्टि में पाठक से दूरी का कारण केवल प्रतीक हैं। यह आम धारणा है कि आधुनिक कवि पता नहीं क्या ऊल-जुलूल कहे जा रहे हैं, जिससे पाठक के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। मेरी दृष्टि में, इस भिन्नता को ही काव्य-सृजन का प्रमुख लक्षण माना जा सकता है। आधुनिक कविता पाठक से परे क्यों हटती जा रही है?—इसका बड़ा कारण उन प्रतीकों का प्रयोग है जो पाठक की समझ से परे हैं। आधुनिक कवि अधिकतर, निजी प्रतीक बरत रहा है, जिनका संबंध पाठक या समूचे समाज से न होकर केवल उसी से है। समाज या पाठक से, कविता यहीं अलग हो जाती है। यदि, कविजन पुराने प्रतीकों—जो कम-से-कम निश्चित हो चुके हैं—का उपयोग करें तो कविता पाठक की कसौटी पर पूरी उतरेगी, क्योंकि वह उन प्रतीकों से परिचित होता है; किन्तु आधुनिक काव्य का प्रमुख प्रयोजन तो प्रतीकों की सृजनात्मकता है। वास्तव में नये अनुभव पुराने प्रतीकों में कहने की कोशिश करने वाला कवि उक्त 'नये अनुभव' का गला अपने ही हाथों घोंट देता है। इसीलिए, आधुनिक कवि नए प्रतीकों का सृजन कर, कविता में उनका प्रयोग करते हैं। नये प्रतीकों पर, उनकी इसी घड़न के समय, कवि का निजत्व हावी हो जाता है जिससे वे दुर्बोध हो जाते हैं। एक आम प्रचलित धारणा यह भी है कि नये प्रतीक पाठक के लिए निरर्थक हैं, जो ठीक नहीं। दरअसल, प्रतीक के अर्थ अभिधात्मक न होकर लाक्षणिक होते हैं। पुरातन प्रतीकों के अर्थ निश्चित हो चुके हैं, किन्तु नये प्रतीकों के अर्थ अभी निश्चित नहीं हुए। इसलिये, यह कहा जा सकता है कि नये प्रतीकों की महत्ता है; न ही ये नये हैं और न ही पाठकों के लिये पहेली। नई प्रतीकात्मक अभिव्यंजना, अधिकतर, निजी होने के कारण, काव्य को श्रोताभिमुख नहीं होने देती।

---

१५. हमारा साहित्य, १९७३

जम्मू-कश्मीर के आधुनिक हिन्दी-पंजाबी कवियों ने भी नये प्रतीक गढ़े और वरते हैं। कइयों ने समकालीन प्रतीकों का उपयोग किया है। शायद इसीलिये, डॉ० ओम गुप्त नई कविता को 'उधारू वाक्यांशों'[16] से युक्त मानते हैं। यहाँ के कवियों की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना को देखने पर पता चलता है कि दोनों भाषाओं के कवियों ने परंपरागत ऐतिहासिक और मिथकीय प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। यथा, राम-कृष्ण कथाओं संबंधी, शिव-पार्वती संबंधी, गुरुमत आदि संबंधी। प्रमाणस्वरूप कुछ उदाहरण देना चाहूंगा—

कस्बों दे हनेर विच
कई सुकरात
जेह्‌रां पी गये
कई आशिक
झनां'च मर गये
कई अर्जुन
देशां च उबल गये।[17]

●

बिस्तरे बबूल के दे रहे शरण
भीष्म पितामह के हम नये संस्करण
अपमानित जीवन का विष पीते,
शिव से खुद को नहीं समझते कम[18]

तथा

जैसे
भीलनी के घर राम ;
मेरे कैलेंडर में
जूठे बेरों की
एक और कहानी जोड़ने—
आया है वसन्त ![19]

---

१६. हमारा साहित्य १६७३
१७. जोगिन्दर सिंह पांधी, 'हड्डियां दे खंडहर'
१८. निर्मल विनोद, 'पत्थरों का दरिया'
१९. सुभाष भारद्वाज, 'रेत का सागर'

कवि-जनों द्वारा घड़े जाने वाले प्रतीकों का आधार प्रायः, उनका वर्ग, परिवेश अथवा पेशा ही होता है। उदाहरणार्थ, पेशे से अध्यापक मान भार्गव का अधिक संबंध निचले वर्ग से है, इसलिये, उसके अधिकांश प्रतीक इन्हीं क्षेत्रों से संबंधित हैं। डॉ० जंग बहादुर के प्रतीक 'डाक्टरी' परिवेश के हैं। ऐसे ही उदाहरण हिन्दी कवियों में भी खोजे जा सकते हैं। यथा प्रो० सुभाष भारद्वाज अध्यापन कार्य से संबंधित हैं। यहां मेरे कथन का यह अभिप्राय कतई नहीं कि कोई कवि अपने घेरे का उल्लंघन कभी नहीं करता। वह किस समाज में विचरता है, किस प्रकार के परिवेश में रहता है और दुनियां को किस नज़रिये से देखता-परखता है, प्रतीक-सृजन में सभी पहलू उसकी सहायता करते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से बात स्वतः स्पष्ट हो जाएगी—

जीवन दा इक सपना
हर घड़ी
हर मोड़ ते
खोजया है जिसनूं
मरीचिका दा मृग बनके रह गया[२०]

ऐसे ही—

अंग हीन ने आस भरोसे
तांघां दे सिर कागां ठुंगे
प्यार औंतरे हाली फिरदा
वफ़ा दे अंग ने लकवे मारे
दिलां दे शीशे तिड़के होए
लहू दी थां नाड़ां विच ज़हिर
कहिर वे लोका कहिर।[२१]

अथवा—

रविवार के दिन
स्कूल के
कमरों जैसी उदास।[२२]

---

२०. मान भार्गव, 'संघर्ष'
२१. अमरीक सिंह सुक्खी, 'सतवीं रुत्त'
२२. सुभाष भारद्वाज, 'रेत का सागर'

हिन्दी भाषा के अन्य कवियों में से डॉ० ओम प्रकाश गुप्त, 'निर्मल' विनोद, सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम्', रमेश मेहता, मोहन 'निराश', उषा व्यास 'छवि', शशिशेखर तोषखानी तथा जवाहर रैणा के नये प्रतीकों ने मुझे विशेष प्रभावित किया है। आनन्दम का यह प्रयोग देखते ही बनता है—

वर्कशाप में
कस कर बंधा
लोहे का टुकड़ा
बाँक के जबड़ों-बीच
जब रेत रहा होता हूं
उसके नयनों का काजल
है छा जाता हाथों पर।[२३]

यहीं मैं मोहन 'निराश' की एक कविता 'अर्थात् मैं' का कुछ अंश भी उद्धृत करना चाहूँगा।

फौजी बूट से उगा हुआ बेईमान हाथ
पानी के बदले पिघला हुआ सीसा पिलाता रहा
इक कौर भात और मछली के बदले खिलाता रहा बारूद
और मैं हर तरह का जहर पचाने का आदि हो गया हूं
मेरे गर्म अस्तित्व का हर एक बिंदु
फैलते-फैलते सूरज हो जाता है।[२४]

सुन्दर, नये प्रयोगों के कुछ अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—

दिन का शीशा
सूरज को मेरी आंखों पर दे मारता है
और फिर
डरा-डरा भाग खड़ा होता है
उस बालक की भांति
जिसकी एक मुट्ठी में
दुपहर की आग में दहकती रेत
और दूसरी में

---

२३. सुतीक्ष्ण कुमार आनंदम् 'देखती आकाश आंखें'

२४. हमारा साहित्य १९७५

किसी के कॉर्निश से चुराया
काग़ज़ी फूलों का गुलदस्ता हो[२५] —('निर्मल' विनोद)

●

मगर अब
गूंगी अभिलाषा को
कसमसा कर, उफ़न कर
छिटकना ही है—
कांटेदार तारों के
बंद घेरे के उस पार—
बूढ़ी व्यवस्था के मांसाहारी—
जबड़ों पर
लगाना ही है थप्पड़
कि
कन्धे—
हवा में फैल सकें[२६] —(रमेश मेहता)

●

आंसू गैस और लाठियों की वर्षा के
पीछे बैठा—
एक मोटा कम्प्यूटर सोचता है—
इस सड़क की गति का नियंत्रण
मैं करता हूं![२७] —(जवाहर रैणा)

●

तुम—
जिनकी आंखों के कोयों से
एक उजला आकाश
एक रेशमी आकाश
धागा-धागा खिलता जा रहा है
तुम—
जिनके लिए हर डगर पर दिशा

२५, २६, २७. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे

अपनी टोकरी में ताज़ा
सूरज लिए आती है।[२८] —(शशि शेखर)

तथा

पर फड़फड़ा के रह जाती है
निरीह विराम चिह्नों की पांत।[२९] —(रत्न लाल शांत)

आधुनिक कविता के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू, इसका छन्द-प्रबन्ध और लय आदि से मुक्त होना है। यह आम धारणा है कि आधुनिक कवि किसी छंद में बंधे नहीं रहते। उन पर यह दोषारोपण भी किया जाता है कि इनके पास न कोई तक्नीक है न छन्द-प्रबन्ध, बल्कि उल्टी-सीधी बातों को लेकर कविता बना देते हैं। इस प्रकार उनकी कविता को नारेबाज़ी, इश्तिहारबाज़ी या स्टेटमेंट की संज्ञा दी जाती है। दरअसल, पुरानी कविता का मुख्य प्रयोजन स्टेज या श्रोताभिमुखी होना ही था। इसलिये, शब्दों को तोड़-मोड़ कर काफिये-रदीफ मिला दिये जाते थे, किंतु आधुनिक काव्य का मुख्य प्रयोजन महसूस करवाना, एक प्रभाव-सा छोड़ देना है। शेष सब, पाठक और उसके मस्तिष्क के ज़िम्मे रखा जाता है। सीधी-सपाट बात इस कसौटी पर पूरी नहीं उतर सकती। इसीलिये, आधुनिक कवि छन्द-प्रबन्ध की अपेक्षा अनुभव को महत्वपूर्ण समझता है। इसका अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं कि आधुनिक काव्य लय रहित है। लय का महत्व आज भी है। ठीक भी तो है, क्योंकि लय-रहित काव्य अपना अस्तित्व ही गंवा बैठता है। दरअसल, घुमा-फिरा के बात फिर वहीं आ जाती है, निजी प्रतीकों के कारण, कविता पाठक की पकड़ से निकल जाती है और लय-हीन लगती है, जबकि वह लय-रहित होती नहीं। जम्मू-कश्मीर के हिन्दी-पंजाबी कवियों की कविता के अध्ययनोपरांत यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि बेशक, उन्होंने छन्द-प्रबन्ध में कुछ छूट ली है फिर भी उनकी कविता को लयहीन कतई नहीं कहा जा सकता। यहां मैं हिन्दी तथा पंजाबी, दोनों से, एक-एक उदाहरण दे रहा हूँ। छन्द-प्रबन्ध से मुक्त इन उदाहरणों में लय-योजना ज्यों की त्यों है···

जानदे हां बाज़ बड़ी दूर तों
शिकार ताड़ लैंदा है

---

२८. 'घोषवती' अप्रैल, '७४ अंक

२९. शीराज़ा, जून '७५ अंक

ते उल्लू—
हनेरियाँ दी ताड़ विच
लबदै शिकार
असीं बाज़ दी नप्प लैन दी आदत
ते उल्लू दी
अक्खाँ नोचन दी हरकत
दोहां दे जानू हां ।[30] —(डॉ० जंग बहादुर)

तथा

मैंने आज तक
जितने सुखों को भोगा है,
उनसे कई गुणा अधिक
देखे हैं सपने।
कल्पना के मखमली पंखों पर बैठ
गगन की नीलिमा के
प्रत्येक अंग के संसर्ग का आनन्द
मैंने लिया है।
आवरण की हर एक रंगीन परत
हर झीना आंचल
धरा पर फेंक दिया है।[31] —(निर्मल विनोद)

हिन्दी के उदाहरण से यह साफ दिखाई देता है कि कवि अचेतन रूप में कहीं-कहीं काफिया मिला जाता है। हिन्दी-पंजाबी के लगभग सभी कवियों में लय-प्रबन्ध विद्यमान है। हिन्दी में, कुछेक कवियों में गीत लिखने की प्रथा भी है, किन्तु पंजाबी में यह रुझान कम ही देखा जाता है। हिन्दी कवि 'निर्मल' विनोद ने गीत विधा में कुछ नये प्रयोग किए हैं। शायद इसीलिये, वह अपनी रचनाओं के लिये गीत की अपेक्षा नवगीत संज्ञा का प्रयोग कर लेता है। नवगीत का कोई सिद्धांत या मुंह-माथा, अभी तक निर्मित होकर हमारे सम्मुख नहीं आया। हो सकता है कि निर्मल विनोद इस क्षेत्र में पहल कर जाये। पंजाबी कवि आधुनिकता के इस बोध से अचेत है।

---

३०. खंडरां दा शहर
३१. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे

आधुनिक काव्य का एक अन्य लक्षण व्याख्या-मुक्त होना है। इसमें, निरर्थक या अनावश्यक विस्तार, पाठक को विषय से विमुख कर देते थे। यदि किसी स्त्री के सौंदर्य की बात होती तो कवि, उसके नखशिख के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में लग जाते। आधुनिक काव्य उस परंपरा को त्याग चुका है। थोड़े शब्द, बड़ी बात !...और कवि पाठक को अपने मनोभावों का एहसास करा देता है। कई आधुनिक कवि चार-चार सतरों में बहुत कुछ कह जाते हैं। इस दृष्टि से जम्मू-कश्मीर के हिन्दी-पंजाबी कवि भी पीछे नहीं हैं..

इन्साफ दी गल जद कदी
कीती किसे ने
ओदे हत्थां चों गराई खो लई
चुल्ली भर दित्ता गेया इक घुट्ट।[32]

ऐसे ही—

सुबह-सुबह
खुली हवा में
गमी खींच कर
छोड़ दी गई
एक सांस हल्की-सी
चीड़ की हवा
उड़ा कर जिसे
चारों ओर फैलती है
ओर
देवदार
देखता है
नयन उघाड़-उघाड़।[33]

हिन्दी और पंजाबी काव्य-क्षेत्र पर दृष्टिपात करने से यह अनुभव होता है कि इन भाषाओं के बहुत से कवि आधुनिक दृष्टि से संपन्न हैं—शंकर शर्मा 'पिपासु', बंसी लाल सूरी, चंद्रकांत जोशी, डॉ० गंगादत्त 'विनोद', श्यामदत्त 'पराग', मनसा

---

३२. डॉ० जंग बहादुर, 'खंडरां दा शहर'

३३. सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम्', 'नौका का इतिहास'

राम शर्मा 'चंचल', सुभाष भारद्वाज, रामकृष्ण शास्त्री, दुर्गादत्त शास्त्री, देवरत्न शास्त्री, सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम्', डॉ० ओम प्रकाश गुप्त, रमेश मेहता, निर्मल विनोद, उषा व्यास छवि, जवाहर रैणा, जगमोहन, सुभाष शर्मा, जितेन्द्र उधमपुरी, भुवनपति शर्मा, अशोक जेरथ आदि, परन्तु मैंने उनका ज़िक्र किया है, जिनमें, आधुनिकता-बोध उभर कर सामने आया है। इसी प्रकार पंजाबी कवियों में सपन माला, उजागर सिंह 'महिक', मान भार्गव, कंवल कश्मीरी, सरन सिंह, डॉ० जंग बहादुर, हरदीप कौर 'दीपक', अमरीक सिंह 'सुक्खी', अमरीक सिंह 'साथी', कृपाल कसाली, विश्वनाथ 'दिल' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई कवियों की प्रकाशित कविताओं की संख्या बहुत थोड़ी है। इसलिये, उनका मूल्यांकन कठिन-सा हो जाता है, विशेषकर, जब उन्हें किसी धारा में बांधना हो। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि हिन्दी कवियों में आधुनिकता-बोध का समावेश पंजाबी कवियों की अपेक्षा कहीं पहले हुआ, परन्तु यह कहना भी गलत नहीं होगा कि पंजाबी कवि, हिन्दी कवियों से कुछ आगे जा रहे हैं, बेशक वे पूर्णता से अभी बहुत दूर हैं।

●

जम्मू की हिन्दी कविता और स्तरीयता का प्रश्न

—प्रो० सुभाष भारद्वाज

जम्मू के हिन्दी क्षेत्र में निबंध, नाटक, कहानी तथा उपन्यास आदि काव्येतर विधाएं कलेवर अथवा स्तर की दृष्टि से अभी तक बहुत समृद्ध नहीं हो पाई हैं। हां, कविता के क्षेत्र में पर्याप्त विकास ही नहीं हुआ है, अपितु स्तर की दृष्टि से भी, स्थानीय कवियों की रचनाएं हिन्दी जगत की उच्चस्तरीय कृतियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं।

जम्मू की हिन्दी कविता की आयु बहुत खींच-खींच कर चौथे दशक के पूर्वार्द्ध तक बढ़ाई जा सकती है। विवेच्य विषय की सुविधा के लिये इसे हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं। चौथे दशक की छायावादी-हालावादी कविता; पांचवें दशक की प्रगतिवादी कविता; छठे दशक की प्रयोगवादी कविता तथा सातवें दशक की समसामयिक कविता।

चौथे दशक को जम्मू की हिन्दी कविता का उदयकाल माना जा सकता है। यह वह समय था जब राज्य में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिये जम्मू नगर की हिन्दी प्रचारिणी सभा तथा साहित्य मण्डल नामक संस्थाएं बहुत सक्रिय थीं। श्री धर्मचन्द्र प्रशान्त, सुश्री शान्ता भारती, स्वर्गीय पं० रमाकान्त भारद्वाज, स्वर्गीय बंसी लाल सूरी, प्रो० रामनाथ शास्त्री, स्वर्गीय शंकर शर्मा पिपासु, सुश्री शकुन्तला सेठ तथा श्री चन्द्रकान्त जोशी प्रभृति अनेक प्रबुद्ध हिन्दी-सेवी तथा साहित्यकार जम्मू में हिन्दी की पताका फहरा रहे थे। इनमें शंकर शर्मा पिपासु, शकुन्तला सेठ तथा चन्द्रकान्त जोशी उस काल के प्रमुख हिन्दी कवि थे जो अभी तक बराबर लिखते चले आए हैं। ये सभी कवि छायावाद तथा हालावाद से प्रभावित थे। इनकी रचनाओं में अचीन्हे प्रिय की खोज, प्रकृति के

रहस्यों को जानने की जिज्ञासा, कल्पना की ऊंची उड़ान, भावों की गम्भीरता तथा शब्दों की कमनीयता एवं मौलिकता आदि वे सभी गुण विद्यमान थे, जो छायावाद तथा हालावाद को लोकप्रिय बनाने में सहायक हुए थे। स्तरीयता को लेकर इस काल की काव्यकृतियों पर अधिक कहना सम्भव नहीं। क्योंकि उस दशक में, दीपक, उषा, भारती, वसुधा आदि स्थानीय पत्रिकाओं में प्रकाशित छुट-पुट कविताओं को छोड़ किसी भी कवि की रचनाएं पुस्तकाकार सामने नहीं आईं।

जम्मू की हिन्दी कविता की स्तरीयता के सन्दर्भ में एक बात याद रखने की यह है कि अहिन्दी भाषी तथा पिछड़ा प्रदेश होने के कारण, किसी भी देशव्यापी साहित्यिक आन्दोलन अथवा प्रवृत्ति की पहुंच यहां हमेशा देर से होती रही है। और यह बात चौथे दशक के लिये और भी ठीक उतरती है। तब देश में न तो हिन्दी में इतनी संख्या में पत्र-पत्रिकाएं छपती थीं ; जो छपती थीं, उनमें से भी कई यहां पहुँच ही नहीं पाती थीं और न हिन्दी अभी राष्ट्रभाषा के पद पर ही आरूढ़ हो पाई थी। इसी लिये हम देखते हैं कि चौथे दशक तक पहुंचते-पहुंचते हिन्दी जगत में छायावाद ही क्षीण-प्राय नहीं हो चुका था ; पांच छः वर्षों तक सिर उठाकर प्रगतिवाद ही ह्रासोन्मुख नहीं हो रहा था ; अपितु, तब तक तो, पहले तार सप्तक के प्रकाशन द्वारा अज्ञेय प्रयोगवादी धारा का सूत्रपात भी कर चुके थे। इस प्रकार हिन्दी जगत में जब छायावाद का हैंगओवर तक भी लुप्त होता जा रहा था, जम्मू में छायावादी काव्यधारा ने ज़ोर पकड़ा।

यही हाल पांचवें दशक में भी हुआ। चौथे ही दशक के आस-पास उभर कर पांच-छः वर्षों ही में विलुप्त हो जाने वाली प्रगतिवादी धारा का प्रवाह जम्मू में कहीं १९४९-५० के आस-पास ही जाकर पहुंच पाया। तब तक तो हिन्दी जगत में प्रयोगवाद पूरी तरह पैर जमा चुका था तथा प्रगतिवाद के नाम पर कहीं-कहीं इक्का-दुक्का रचनाएं ही हो रहीं थीं।

पांचवें दशक में जम्मू की प्रगतिवादी धारा में दो ही प्रमुख कवि गिनाए जा सकते हैं। ये थे सुभाष भारद्वाज तथा चन्द्रकान्त जोशी। चन्द्रकान्त जोशी भले ही अभी तक छायावाद की मोहनी के पाश से पूरी तरह नहीं छूटे थे, परन्तु वह उसमें से बाहिर निकलने की भरपूर कोशिश अवश्य कर रहे थे। उधर सुभाष भारद्वाज के कवि ने अपनी काव्य-यात्रा का आरंभ ही प्रगतिवाद से किया था। तत्कालीन काव्य दिशा से पीछे होते हुए भी इन दोनों कवियों की काव्य-

कृतियों में देश की श्रेष्ठतम प्रगतिवादी रचनाओं के साथ होड़ लेने की क्षमता अवश्य विद्यमान थी। इसी दशक में दो काव्यसंग्रह भी प्रकाश में आए। पहला था चन्द्रकान्त जोशी विरचित 'दुःख-सुख' (जो फारसी लिपि में प्रकाशित हुआ था) तथा दूसरा था 'ताण्डव' (सुभाष भारद्वाज) चन्द्रकान्त जोशी की 'अभी मुझे जीना है' तथा 'अरे, चिता यह किसकी जलती' आदि कविताएं भाव, कल्पना तथा भाषा की दृष्टि से तो उत्कृष्ट हैं ही, गेयता के माधुर्य से भी सम्पन्न हैं। सुभाष भारद्वाज मुख्यतः मुक्तछन्द के कवि हैं। ताण्डव में संग्रहीत, मेरी कितनी ही ऐसी रचनाएं हैं जिन्हें देश की उच्चस्तरीय प्रगतिवादी कविताओं के समकक्ष आसानी से रखा जा सकता है।

स्तरीयता के प्रश्न को लेकर जम्मू की हिन्दी कविता के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात और कहनी होगी। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में कविता के स्तर को बनाए रखने तथा इसके विकास के लिये प्रकाशन की पर्याप्त सुविधा तथा लेखन में प्रोत्साहन का होना परमावश्यक है। पर खेद है कि यहां के हिन्दी कवियों को दोनों में से एक की भी उपलब्धि नहीं हो सकी। राजकीय अथवा अर्द्ध-राजकीय संस्थाओं द्वारा यदा-कदा आयोजित कवि-सम्मेलनों को छोड़, सुविधा अथवा प्रोत्साहन के नाम पर, इन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं रहा है। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी यहां के हिन्दी कवियों ने अपने अस्तित्व ही को नहीं बनाए रखा अपितु अपनी कलम को कभी स्तर से नीचे जाने भी नहीं दिया। काव्य-पथ के इन समर्पित यात्रियों का यह साहस, गौरव तथा आश्चर्य-मिश्रित हर्ष का विषय है।

छठे दशक तक पहुंचते-पहुंचते जम्मू में प्रगतिवाद के स्वर मन्द पड़ने लगे तथा प्रयोगवादी शैली की नई कविता अंकुरित होने लगी। इस धारा का जम्मू में सूत्रपात करने वाले हिन्दी कवियों में प्रमुख थे सुभाष भारद्वाज, सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम आदि।

सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम, जो पांचवें दशक ही में काव्य-सृजन आरंभ कर चुके थे, छठे दशक के आरंभ में निखर कर सामने आये। 'देखती आकाश आंखें' में संग्रहीत कविताओं में आनंदम की परिष्कृत प्रति के दर्शन होते हैं।

न फूल ही खिले

न धूल फूलों की

यह बीसवीं शती की वसंत है भाई

जन अंतस् में छाई

इन पंक्तियों में युगीन विसंगतियों पर कवि की मार्मिक व्यंग्योक्ति दर्शनीय है।

इन्हीं दिनों ज्योतीश्वर पथिक की सहजगम्य रचनाएं देखने को मिलीं। उर्दू शैली के मुक्तक लिखकर आप ने हिन्दी-उर्दू और मुहावरों का सुन्दर तालमेल बैठाया है। जीवन के चुभते स्थलों का आपने सहज सरल भाषा शैली में बड़ा सुन्दर चित्रण किया है...

मैं शंकर हूं
नीलकंठ हूं
भोला भी प्रलयंकर भी
इतना कड़वा विष पीकर भी
अपनी धुन में चलता जाता।

इन पंक्तियों में विषैले यथार्थ की तीव्र अभिव्यंजना के साथ-साथ कवि का अलवेला फक्कड़पन लक्षित हुआ है।

रमेश मेहता सामयिक जीवन-बोध को मुक्त छन्द में उद्भासित करते हैं। परिवेशगत विसगतियों से जूझने और अनियमितताओं को उखाड़ फैंकने का आह्वान आपकी कविताओं में मिलता है—

बीती सदियों को
वर्तमान से जोड़ने वाले सेतुओं के
टूट जाने पर
मेरे तुम्हारे संबंधों में
कोई सार नहीं रह गया है।

तथा

मुझे नई प्रात दो
मुझे
नव प्रभात दो
मुझे
मेरे वध का
प्रतिकार दो।

इन पंक्तियों में सब कुछ चुपचाप न सहकर संघर्ष के पथ पर अग्रसर होने का सदेश है।

डॉ० ओम प्रकाश गुप्त की कविता युगव्याप्त अंधकार की सिहरन लिये रहती है—

रोशनी इतनी
कि बस दीख रही मौत की घाटी
जीवन के सभी आयाम खो गये हैं
ऐसा लगता है
हम सभी ताबूतों में सो गये हैं ।

कवि युग-पीड़ा के सन्मुख अपनी निजी यन्त्रणाओं को तुच्छ समझता है—

आकाश जैसा भी है
मेरे लिये मनोरम है
इन ढहते घरों के गम में
मेरा गम क्या गम है ।

छठे दशक की एक विशेषता यह रही है कि इसमें कविता की एकाधिक धाराएं समानान्तर रूप से प्रवाहशील रही हैं । परम्परागत शैली में पिपासु का दो चांद तथा डॉ० गंगादत्त विनोद का 'उल्लोल' नामक काव्य संग्रह इस दशक की ऐसी ही उपलब्धियां हैं । मनसाराम शर्मा चंचल, रामकृष्ण शास्त्री, दुर्गादित्त शास्त्री प्रभृति कवियों की काव्यकृतियों में शृंगार, अध्यात्म, राष्ट्रीयता तथा सामयिक समस्याओं पर गंभीर काव्य चिन्तन के कई सुन्दर उदाहरण गिनाए जा सकते हैं । प्रो० देवरत्न शास्त्री, डॉ० प्रियतमचन्द्र शास्त्री तथा मनसा राम शर्मा चंचल मूलतः छन्दोबद्ध शैली के रचनाकार होते हुए भी समसामयिक परिवेश एवं नवीन जीवन बोध के प्रति पूर्णतः जागरूक हैं । इनकी रचनाएं भावगरिमा, गतिशीलता, चुभती व्यंग्योक्तियों के साथ-साथ भाषा की प्रौढ़ता एवं विविधता लिये रहती हैं ।

सातवें दशक तक आते-आते जम्मू की हिन्दी कविता अपने विकास के उस सोपान को पार कर गई जहां वह हिन्दी जगत की काव्यधारा के साथ अपनी दूरी को पाट कर, उसके संग, कंधे से कंधा मिलाकर, चलने लगी । दिन-दिन प्रगुणित होती हुई मानवीय यंत्रणाओं, विडम्बनाओं तथा विसंगतियों के कुहासे में चटपटाते हुए आजके मानव का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने में जम्मू के कवियों को पर्याप्त सफलता मिली है । वे इस तथ्य के प्रति सचेत हैं, कि आजके प्रश्न-चिह्नाकार मानव को उसकी घातक यंत्रणाओं से मुक्त करवाना कोई आसान काम नहीं । वे जानते हैं कि मानव को घेर कर खड़ा यह प्रश्नचिन्हों का दुर्ग अलंघ्य और दुर्भेद्य है । उन्हें मालूम है कि आज विश्व भर में कोई भी सुकवि कृष्ण, ईसा

अथवा सिद्धार्थ बनकर इस दुर्ग से टक्कर लेने में समर्थ नहीं हो रहा। इन्हीं सत्यों का उद्गिरण जम्मू की सातवें दशक की कविता की विशेषता है।

आज की मुखौटाधारी मानव-वृत्ति पर निर्मल विनोद के चुभते कटाक्ष द्रष्टव्य हैं—

घेरे में जीवन
आंखों पर पट्टियां
यातना
निरन्तरता।

इनकी गज़लें भी सामयिक विसंगतियों को उद्भासित करने में सफल हुई हैं—

जी रहे हैं शान से बाहर
मर रहे घर मुंह छिपाए लोग।

नवगीतों तथा गज़लों के अतिरिक्त, भले ही आप मुक्त छन्द में भी लिख रहे हैं, किन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आप जम्मू के एकमात्र सफल नवगीतकार हैं।

जितेन्द्र उधमपुरी की लेखनी भी परिवेश-प्रदत्त पीड़ा से मुक्त नहीं।

इस शहर में
हर गली
जाकर रुकती
एक नये दर्द के मोड़ पर।

अभावों के महानगर में फैले दर्द को अपनी छाती में समेटते हुए चलते जाना जितेन्द्र के लिये कोई अनहोनी बात नहीं। यही तो, अभावों के पीलिये से पियराए आजके मानव की नियति है।

पीले पीले
सूखे पत्तों का दर्द
मुझे अपनी पीली चादर में लपेटना होगा।

क्योंकि उसे तो चाहे-अनचाहे ढंग से जैसे-कैसे भी हो—

बस जीना होगा
चुपचाप
दूर तक फैले
पीले पीले
इस पतझड़िया मौसम में।

अनुभूति की तीव्रता तथा घनी संवेदनशीलता जितेन्द्र की विशेषता है।

इस दशक में जम्मू के हिन्दी कविता-कानन को समृद्ध बनाने में जिन अन्य कवियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, उनमें उषा व्यास छवि, जगमोहन, अशोक जेरथ, जवाहर रैंणा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उषा व्यास छवि की दृष्टि में रात भी दिन से कुछ कम पीड़ा लेकर नहीं आती है।

दिवस काला हो गया है
कच्ची नींद से जागे शिशु की तरह
रात के कन्धे लगा
कुनमुना कर सो गया है।

अछूते बिम्बों में समसामयिक सन्दर्भों को संजोने की दृष्टि से इनके प्रयास स्तुत्य हैं।

जिन्दगी की भली-चंगी 'साइकल' जो इन्द्रधनुषी सपनों की दुनियां में अपने सवार को घुमाती-फिरती थी, आज इसे सहसा यह क्या हो गया है। जवाहर रैंणा इसके लिये बदले हुए परिवेश को दोष न दें तो और किसे दें—

मगर आज—
सभी रंग
हुए हैं भंग
अपना भार लेकर चलने में भी
यह साइकल
अशक्त है
किसी को दोष क्या दें
बदल ही गया जो
वक्त है।

और जगमोहन के शब्दों में तो आज की पीढ़ी के मनुष्य नाम के प्राणी तो—

न दिन को जीते हैं
न रात को मरते हैं।

सच ही तो है। दिन की घातक यन्त्रणाओं के बाद रात भी कौन सा मरहम लेकर आती है ?

लेकिन इस घोर निराशा और हताशा के क्षणों में भी अशोक जेरथ को विश्वास है कि—

जिस दिन

यह भीड़ दिशा पाएगी

तब—

'वर्तमान' और 'भविष्य'

मेरे लिये असंदिग्ध

और तुम्हारे लिये संदिग्ध होंगे ।

सातवें दशक में उद्‌भासित होने वाली इन कवि-प्रतिभाओं के साथ-साथ चौथे, पांचवें तथा छठे दशक में लेखन आरंभ करने वाले चन्द्रकान्त जोशी, सुभाष भारद्वाज, सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम, रमेश मेहता, डॉ० ओम प्रकाश गुप्त, ज्योतीश्वर पथिक आदि कवियों ने जम्मू के हिन्दी काव्य साहित्य को समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस दशक में अब तक प्रकाशित काव्य-कृतियों में आनन्दम रचित 'कांप कांप रहा चक्रवन्धु' तथा नौका का इतिहास ; रमेश मेहता का 'खुले कमरे बद द्वार' ; डॉ० ओम प्रकाश गुप्त का 'सागर के तीर' तथा निर्मल विनोद का 'पत्थरों का दरिया' महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं, जिन्हें स्तरीयता की दृष्टि से हिन्दी जगत की श्रेष्ठ काव्यकृतियों की कोटि में आसानी से रखा जा सकता है।

अपने वक्तव्य को उपसंहृतं करते हुए एक बात और जोड़ना चाहूंगा। ऊपर के वक्तव्य में स्पष्ट किया जा चुका है कि जम्मू की हिन्दी कविता, स्तरीयता की दृष्टि से, हिन्दी जगत से एक इंच भी पीछे नहीं। पिछले दशक तक दोनों के बीच जो दूरी थी भी, उसे जम्मू के कवि अपने अदम्य साहस तथा अपार जीवट के बल पर पाट चुके हैं। हां, सातवें दशक में नया नया लिखना शुरू करने वाले कुछ कवियों में प्रतीक योजना, बिम्बविधान तथा भाषा प्रयोग की दृष्टि से कुछ त्रुटियां अवश्य दृष्टिगत होती हैं। इन कवियों की लगन और उत्साह को देखते हुए आशा की जा सकती है कि वे इन्हें और अधिक अध्ययन तथा अभ्यास द्वारा दूर करने में सफल होंगे। जम्मू की अब तक की हिन्दी कविता पर सामूहिक दृष्टि से देखा जाए तो जो प्रमुख प्रश्न सामने आता है वह स्तीरयता का नहीं ; स्तरीयता को मान्यता मिलने का है। कमी प्रतिभा, रचना कौशल अथवा स्तरीयता की नहीं ; कमी है तो उन साधनों और सुअवसरों की, जिनसे जम्मू के हिन्दी कवि आज तक वंचित रहे हैं। और इनकी पूर्व प्राप्त स्तरीयता को मान्यता देने का दायित्व प्रदेश के प्रशासन से कहीं अधिक हिन्दी जगत की उन बड़ी बड़ी पत्रिकाओं तथा उन प्रचार संस्थाओं पर है जो हिन्दी को देश के अग्रु

अणु में व्याप्त करने का दम भरती आ रही हैं। सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम के शब्दों में—

ऊपरी सतह के नीचे
गहरे में से
सुनाई दे रहा है
शान्त स्वर
जो कभी गरमेगा
ऊपर की सतह पिघलेगी
स्फूर्ति जगेगी।

—लगता है, अपनी स्तरीयता पर जमी असुविधाओं भरी विपरीत परिस्थितियों की घनी परत के पिघलने की आशा में ही जम्मू के कवि सांस सांस जिए जा रहे हैं।

हिन्दी पुस्तकों के डोगरी अनुवाद —एक अध्ययन

—श्रीमती शक्ति शर्मा

हिन्दी के डोगरी अनुवाद गिने-चुने हैं। उनके अध्ययन के समय एक मूल तथ्य सामने रखना होगा। वह यह कि डोगरी और हिन्दी एक ही लिपि में लिखी जाती हैं और समान लिपि के कारण डोगरी से हिन्दी में हुए अनुवादों में कहीं कहीं तो ऐसा लगता है मानो का, के, की के स्थान पर गा, गे, गी का प्रयोग किया गया है और अनुवाद करते समय प्रायः शब्दानुवाद किया जाता है जिससे प्रवाह का अभाव और हर वाक्य में अनुवाद प्रयासपूर्ण सा लगता है। सरल स्वाभाविक अनुवाद के लिये यह आवश्यक होता है कि शब्दों का नहीं वाक्य का अनुवाद हो और वाक्य विन्यास ऐसा हो कि अनुवाद मौलिक कृति महसूस हो। यह एक अच्छे अनुवाद की कसौटी होती है। हिन्दी से डोगरी में हुए प्रमुख अनुवाद हैं—अन्ना युग, मृगनयनी, गोदान, सामान्य भाषा विज्ञान, मल्लिका और सुन्ना ते स्वार्थ। सुन्ना ते स्वार्थ शंभु मित्रा की बंगाली कृति के नेमिचन्द्र जैन द्वारा किये गए हिन्दी अनुवाद का डोगरी अनुवाद है। नरेन्द्र खजूरिया के हिन्दी नाटक 'रास्ता, कांटे और हाथ' का 'न्हेरे रस्ते चानन होए' नाम से डोगरी में अनुवाद किया गया है। हिन्दी का वेदराही का 'दरार' नामक उपन्यास भी अब 'दरेड़' नाम से डोगरी में छपा है। अन्य भाषाओं से भी डोगरी में बहुत से उपन्यास, कहानियां, नाटक और कविताएं अनूदित हुई हैं। बंगाली एवं संस्कृत का अनुवादों को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण योग रहा है। तुलना की जाये तो हिन्दी से हुए अनुवाद संख्या में कम ही हैं। कुछ एक कहानियों के भी अनुवाद हुए हैं। उसने कहा था का डोगरी अनुवाद किया जा चुका है।

सबसे पहले कहानियों के अनुवाद को ही देखें। चन्द्रधर शर्म 'गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी **उसने कहा था** का अनुवाद स्व० नरेन्द्र खजूरिया ने किया है 'उसने आरुखेया हा'। अनुवाद में शब्दानुवाद की प्रवृत्ति है। प्रेमचन्द की एक कहानी का भी डोगरी अनुवाद हुआ है जो भारती कहानियां में 'जागत' के नाम से छपी है। अनुवाद मधुकर ने किया है। मधुकर और नरेन्द्र खजूरिया दोनों ही के पास डोगरी भाषा की अनूठी शब्दावली है और भाषा का अभिव्यक्ति सौन्दर्य उनमें झलकता है। एक त्रुटि **"उसने कहा था"** के अनुवाद में झलकती है। हिन्दी कहानी में पंजाबी की जो 'छौंक' कहानी का एक प्रभावी अंश थी डोगरी में 'हटी जा जीने जोगिये' आदि करके उसके स्वरूप पर उतना अच्छा प्रभाव नहीं छोड़ता। पर डोगरी भाषा की छटा अपना ही सौंदर्य लिये है।

"बिजली दे पलाके आंगर पुट्ठी बन्दूक चुक्किये लहना सिंह ने साब दी आरकै पर ताड़ कीती दी मारी"। इस एक पंक्ति में ही डोगरी का साहित्यिक सौन्दर्य कितनी प्रखरता से उभरता है। "बिजली दा पलाका" और "साब दी आरक" और फिर "ताड़ कीती दी मारी" जैसे शब्द इनकी भाषा में सोने में सुहागे का काम करते हैं। बसुरती, डौल, गीजा धस ई उड़ेआ आदि पर शब्दानुवाद की भी प्रवृत्ति नरेन्द्र जी में है और "लहना सिंह तक्की-तक्कीयै मारै करदा हा" पंक्ति में लहना सिंह तक-तक कर मार रहा था का डोगरी अनुवाद मात्र विभक्तियां आदि लगा कर हिन्दी के डोगरीकरण का प्रयास है। इसी प्रकार भारती कहानियां तथा प्रसिद्ध कहानियां की अधिकांश कथाएं हिन्दी के माध्यम से अनूदित हुई हैं और उनमे कहीं कहीं तो सरल स्वाभाविकता है। कुछ अन्य कहानियों के शब्दानुवाद और अनुवाद भी नमी चेतना, फुलवाड़ी, अम्बर आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपे हैं। शीराजा डोगरी ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और अब डोगरी के कहानी-अनुवाद भाषा और भाव दोनों ही प्रकार से काफी सुधर गये हैं। इस प्रकार की पंक्तियां हमें 'मृगनयनी' और 'गोदान' के अनुवादों में भी मिलती हैं। अनुवाद में जो बात देखी जाती है वह यह है कि क्या वह मूल भाषा के मुहावरे को उतनी ही सफलता के साथ अपनी भाषा में अनूदित कर सकता है और जब हम हिन्दी से डोगरी में हुए अनुवादों की बात करते हैं तो उसमें दोनों भाषाओं में समान अधिकार रखने वाले अनुवादकों का अभाव खटकता है। बहुत से अनुवाद अन्य भाषाओं में होने पर भी वे हिन्दी के माध्यम से ही होते हैं। श्री टी० शंकर पिल्लै का उपन्यास "दौं टुप्पे धान" मलयालम भाषा से नहीं हिन्दी में हुए उनके 'दो पसेरी धान'

का डोगरी अनुवाद है ; मूल मलयालम से अनूदित नहीं हुआ। इसी प्रकार 'सुन्ना ते स्वार्थ' भी मूल बंगाली रचना का नहीं हिन्दी अनुवाद 'कांचन रंग' का रूपान्तर है। यही बात विष्णु भारद्वाज के 'बाकी इतिहास' के डोगरी अनुवाद के बारे में भी कही जा सकती है जो वास्तव में नेमीचन्द्र जैन के बंगाली के हिन्दी अनुवाद का डोगरीकरण है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एकोत्तरशती इसका अपवाद है जिसका अनुवाद सीधे मूल भाषा से हुआ है मगर बाकी दोनों में और अधिकतर अनुवादों में मूल भाषा की प्रकृति का घ्यान नहीं होता और अनुवाद का अनुवाद होने के कारण ये वास्तविक मूल रचना से कहीं दूर चले जाते हैं। डोगरी अनुवाद साहित्य के अधिकतर उपन्यास 'बत्तै दे दावेदार' 'परिणीता' या 'पतालबासी' आदि हिन्दी से या अंग्रेज़ी से हुए अनुवाद हैं। अनुवादकों को मूल रूसी भाषा का या बंगला भाषा का ज्ञान नहीं के बराबर है। हां इतना अवश्य है कि संस्कृत के अनुवाद अधिकारी विद्वानों द्वारा होते हैं और उनमें दोनों भाषाओं पर समान अधिकार दीखता है पर संस्कृत और अंग्रेज़ी से हुए अनुवाद इस लेख की सीमा से परे हैं। इस समय हम केवल हिन्दी के डोगरी अनुवादों की बात करेंगे।

सबसे पहले हिन्दी से डोगरी में हुए उपन्यासों की बात करें। एक है 'मृगनयनी' और दूसरा 'गोदान'। यह दो उपन्यास डोगरी में स्व० भगवत् प्रसाद साठे ने अनूदित किये हैं। अनुवाद में एक ईमानदार प्रस्तुतीकरण है। डोगरी भाषा के प्रभावी शैलीकार के रूप में साठे का अपना स्थान है और डोगरी अनुवाद में डोगरी भाषा की छटा देखते ही बनती है। पढ़ते हुए कहीं नहीं लगता कि हम अनुवाद पढ़ रहे हैं। भौड़ा, घूड़ी, अक्खीं, घारां, बा मन्नह कुआंस (मृग० पृ० १४, १५) कहीं से खोलिये डोगरी निमंत्रण को नमन्तर कह कर अपनी छटा दिखलाएगी। "चांदी दियें उनें भौड़ें दे कन्ने इक पास्से........ .... चोटी पर द्रौड़ा करदी ही" (मृग० १५) में टुल्लनिदां लैंदी खेतरी और घूड़ी घारा में साहित्यिक डोगरी के दर्शन किये जा सकते हैं। इस अनुवाद की एक विशेषता यह भी है कि मध्य भारत के जनजीवन से अनुवादक के व्यक्तिगत रूप से अच्छी तरह परिचित होने के नाते यह अधिक स्वाभाविक है और भाषा पर समान अधिकार है। ऐसा स्पष्ट दीखता है।

गोदान के अनुवाद में भी अनुवादक बहुत समय तक उत्तर प्रदेश में रिहायश के कारण वहां के रीति-रिवाजों और परम्पराओं से भली-भांती परिचित है और इसीलिये अनुवाद में किसी प्रकार की कोई अस्वाभाविकता नहीं।

डोगरा गांव से सम्बद्ध होने के कारण श्री साठे का ग्रामीण जीवन से अच्छा परिचय है और इसीलिये गोदान के अनुवाद में भी एक स्वाभाविकता आ गई है। प्रथम पृष्ठ में ही कमांद गुडुनां, झत्त नि होनी, न्हारी पत्तरी ते करी लौ, मत्था झुनकाइयै उसने आखेया, खुड़बा खुड़बी जैसे डोगरी शब्द बड़ी सुन्दरता से सामने आते हैं। सुन्हाकड़े जोआन कनक बन्ना रंग। हिन्दी के साठा से पाठा का डोगरी रूपान्तर देखें। "मर्द माहनू सट्ठे दी उमरी च बी पट्ठे हुन्दे न" "सचाई दे सेकै च परडोई गेया" इस प्रकार के उदाहरण साठे जी के डोगरी भाषा पर अधिकार को स्पष्ट करते हैं और साफ-सुथरी मुहावरेदार साहित्यिक डोगरी की एक झलक हमारे सामने रखते हैं। मगर यह बात भी नहीं कि अनुवाद पूर्णतया निर्दोष है। "सभा पर भय छाई गेआ" (गो० पृ० १०१) विभक्तियों के प्रयोग में हिन्दी के डोगरीकरण की बात है। भय के लिये भै होना चाहिये था। "दिन रात चरखे दी माहला वांगर चक्कर पे दा" में भी वांगर बहुत उचित नहीं। आंगर या आंगू अधिक सटीक होता (गो० पृ० १२६) "अनडरियां ते मस्त अक्खीं भी" सुधारा जा सकता है। "नडर अक्खीं" अधिक उचित है पर इस सबके बावजूद यह अनुवाद एक अच्छा अनुवाद है, इसमें सन्देह नहीं। डोगरी में हिन्दी के युगीन उपन्यास नहीं आ रहे। आज जब हिन्दी उपन्यास में 'वे दिन', 'गली आगे मुड़ती है', 'पुनर्नवा' और 'मेरी तेरी उसकी बात' जैसी महत्वपूर्ण कृतियां छपी हैं तो उनके डोगरी अनुवाद भी अब आने चाहिये। गोदान और मृगनयनी हिन्दी उपन्यास साहित्य की दो धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं मगर हिन्दी उपन्यास जहां आज खड़ा है और जो महत्वपूर्ण लघु उपन्यास हिन्दी में छप रहे हैं उन्हें डोगरी भाषा में लाने की महती आवश्यकता है इसके लिये योजनाबद्ध प्रयास चाहिये और चाहिये एक समयबद्ध कार्यक्रम।

हिन्दी से हुए नाटकों के डोगरी अनुवाद डोगरी के नाटक साहित्य में महत्वपूर्ण अभिवृद्धि प्रमाणित हुए हैं। अब तक मोहन राकेश के आषाढ़ का एक दिन शंभु मित्र के कांचन रंग और बादल सरकार के बाकी इतिहास के डोगरी अनुवाद हुए हैं। यह हिन्दी के अनुवादों के डोगरी अनुवाद हैं। इनके अतिरिक्त धर्मवीर भारती का महत्वपूर्ण काव्य नाटक 'अंधा युग' भी डोगरी में अनूदित हो चुका है। उनका भाई गोपालदास और दीपशिखा रेवतीसरण शर्मा के डोगरी अनुवाद भी हुए हैं पर यह अभी छपे नहीं। अनुवाद में मूल भाषा और लेखक के साथ एकात्म होना पड़ता है और हिन्दी नाटकों के डोगरी अनुवाद इस कसौटी पर

कितने पूरे उतरते हैं इसे देखने के लिये हिन्दी और डोगरी दोनों अनुवादों के उदाहरण सामने रखने होंगे। मोहन राकेश का एक महत्वपूर्ण नाटक है 'आषाढ़ का एक दिन'। इसका डोगरी अनुवाद 'मल्लिका' के नाम से किया गया है। अनुवादक हैं श्री जितेन्द्र शर्मा और श्री चंचल शर्मा। अनुवाद कैसा है एक उदाहरण से देखें—

"सोच रहा हूँ वह आषाढ़ का ऐसा ही एक दिन था, ऐसे ही घाटी में मेघ भरे थे और असमय अंधेरा हो आया था। मैंने घाटी में एक आहत हरिण को देखा और उठा कर यहां ले आया। तुमने उसका उपचार किया था।"

(पृ० ११०)

—सोचें करना ओ वी हाड़ म्हीने दा इस्सै चाली दा इक दिन हा, इयां गै उस दिन वी घाटी च बदल आई घिरे हे। में घाटी चा इक ज़ख्मी हिरण लइये इत्थे आया हा ते तूं ओदी सेवा टैहल कीती ही।" (पृ० १३३ मल्लिका)

"मैंने कहा था मैं अथ से आरंभ करना चाहता हूं। यह सम्भवता इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व था पर देख रहा हूं समय अधिक शक्तिशाली है।

क्योंकि

क्योंकि

क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता।"

—हां में आखेआ हा जे मुड़ी मुंडा शुरू करना चाहना पर ओ ते समे गी इक चनौती देने आली गल्ल ही दिक्खें करना जे समां मता बलोआन ए

कीजे

कीजे

कीजे ओ कुसै गी बलगदा नईं।

"यह सम्भवता इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व" का डोगरी अनुवाद "इयां बझोन्दा जे खबरै ए इच्छेआ दा समे दे कन्ने टाकरा जन हा" होना चाहिये। 'समेगी चनौती देने आली गल्ल लबदी ए" में भाव पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता। पहले उद्धरण के अनुवाद में "असमय अंधेरा हो आया था" का अनुवाद नहीं हुआ है इस तरह की भूल अन्य स्थलों पर भी हुई है तृतीय अंक में मल्लिका के स्वगत कथन में "दारिद्रय नहीं छिपता, सौ-सौ गुणों में भी नहीं छिपता, नहीं छिपता ही नहीं सौ-सौ गुणों को छा लेता है, एक-एक कर नष्ट कर देता है" का डोगरी अनुवाद अधूरा सा लगता है "नहीं छिपता ही नहीं सौ-सौ गुणों को छा लेता है" जैसी पूरी पंक्ति का अनुवाद छूट गया है और वैसे भी अनुवाद संतोषजनक नहीं। इस अनुवाद के गुण-दोष ऊपर दिये दोनों उदाहरणों में स्पष्ट हो जाते हैं। थोड़ी अधिक सावधानी

और सतर्कता से अनुवाद और भी सुन्दर और प्रभावी हो सकता था। शंभु मित्र के कांचन रंग नामक बंगला नाटक के हिन्दी अनुवाद कांचन रंग का डोगरीकरण श्री जितेन्द्र शर्मा ने किया है। भाषा मुहावरेदार और नाटकीय है और अच्छी साहित्यिक डोगरी का चित्र प्रस्तुत करती है। अनुवाद का अनुवाद होने पर भी इसमें एक ताज़गी है। 'सुन्ना ते स्वार्थ' एक अच्छे अनुवाद का उदाहरण है जिसमें डोगरी भाषा की क्षमता उजागर होती है। 'बाकी इतिहास' का डोगरी अनुवाद विष्णु भारद्वाज ने किया है और इसमें कहीं-कहीं डोगरी की झलक दीखती है नहीं तो हिन्दी और डोगरी नाटक में बहुत अंतर नहीं दिखता। अनुवाद मूल नाटक की वैचारिक प्रखरता के कारण अधिक प्रभावी है और अनुवादक ने यह माना है कि यह रूपान्तर नहीं अनुवाद है...मूल रूप को डोगरी शब्दावली में ढाला मात्र है और यह एक और प्रकार है जिसमें अनुवादक सफल रहा है। कुलदीप सिंह जन्द्राहिया ने स्व० नरेन्द्र खजूरिया के हिन्दी नाटक 'रास्ता कांटे और हाथ' का डोगरी अनुवाद किया 'न्हेरे रस्ते चानन होए' दोनों लेखक जम्मू के हैं और व्यक्तिगत संपर्क भी रखते हैं जन्द्राहिया सफलतापूर्वक डोगरी में नरेन्द्र को रूपान्तरित कर सका है। यह सब अनुवाद तो गद्य के हैं। श्री रामनाथ शास्त्री ने हिन्दी साहित्य के एक अत्यन्त विवादास्पद काव्य नाटक 'अंधा युग' का डोगरी रूपान्तर किया है 'अन्ना युग' के नाम से। अगर मूल कृति न पढ़ी हो और केवल अनुवाद ही पढ़ें तो इसमें कोई संदेह नहीं कि यह स्वतंत्र रचना ही लगती है पर अनुवाद के रूप में मूल रचना को सामने रख कर पढ़ने से 'अन्ना युग' एक कमजोर अनुवाद है जिसमें अनुवादक कठिन स्थानों पर बचने की कोशिश करता रहा है। 'अंधा युग' का डोगरी अनुवाद हर पृष्ठ पर एक प्रश्न-चिन्ह खड़ा करता है और श्री शास्त्री के अनुवादक के गुण और दोष इस नाटक में पूरी तरह उभरे हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

> राजशक्तियां लोलुप होंगी। जनता उनसे पीड़ित होकर गहन गुफाओं में छिप-छिप कर दिन काटेगी—अन्धा युग पृ० [illegible]

श्री शास्त्री का डोगरी अनुवाद है—

> **लोभी होगंन राजशक्तियां ते दुखियारे डरदे मानू**
> **स्हारे तुपंगंन कुते न्हेरियें गुफें दे अन्दर।**
>
> **राज्यशक्तियाँ लोभी होंगी और दुखी भयभीत मानव कहीं अंधेरी गुफाओं में सहारे ढूंढते फिरेंगे।**

यह अनुवाद कहां तक उचित है पाठक देख लें—

युद्धोपरान्त यह अंधायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियां मनोवृत्तियां आत्माएं सब विकृत हैं

अनुवाद है—

इस लामा दे पिच्छों ए अन्नायुग ऐ उतरी आया
जिसदे अंदर मनोभावना अकलां रूहां
सब किछ मांदा सब किछ मैला।

मनोवृत्तियां या स्थितियां डोगरी में रूपान्तरित नहीं हो सकी हैं।

इसी में आगे अनासक्त का डोगरी अर्थ अनुवाद में कहीं नहीं हो पाता। पहरेदारों के वार्तालाप में गलियारे को श्री शास्त्री ने हर जगह राजड्योढी कहा है राजड्योढी गलियारा नहीं होता अपने अनुवाद के पृ० ३४ पर उन्होंने इसके लिये गैली शब्द का उपयोग किया है गलियारा गली है ड्योढी नहीं। प्रहरी दो के कथन का डोगरी अनुवाद ठीक नहीं हुआ है—

रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहां	उस अन्ने बुड्डे राजे दी
सस्कृति थी यह बूढ़े और अंधे की	इक अपनी गैं ते सस्किरती ही
जिसकी संतानों ने महायुद्ध घोषित किये	जिसदी आल उलादी ने ए
जिसके अन्धेपन में मर्यादा	आले दइये युद्ध सदाया
गलित अंग वेश्या सी	उस अन्ने दे कारण ए
प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी	मरजादा दा रूप विड़ेगया
	सारी परजा मान्दी होई गेई
पृ० १३	पृ० १८

जिसके अन्धेपन में मर्यादा गलित अंग वेश्या सी प्रजाजनों को रोगी बनाती फिरी यह बात कहीं भी अनुवाद में स्पष्ट नहीं है। एक और उदाहरण जहां अनुवाद मूल को स्पष्ट न कर पाकर मूल बात से कहीं अलग भटक जाता है—

जिसने अब हमें थका डाला है	पर हुण एह देह हुट्टी गेई ए
मेहनत हमारी निरर्थक थी	चौकस होइये पैहरा देना
आस्था का	इन्नी मेहनत
साहस का	ए तनदेही ए सोगापन
श्रम का	सब वे फैंदा
अस्तित्व का हमारे	सब वे मतलब
कुछ अर्थ नहीं था	
कुछ अर्थ नहीं था अ० यु० हि० १३	अ० यु०डो० १८

इसके आगे वह नरभक्षी का डोगरी रूपान्तर करना भूल जाते हैं। हां अगली पंक्तियों में 'दिक्खी लेई धृतराष्ट्र ने वी मौती दी ए गास डुआरी' बहुत ही सटीक एवं सुन्दर अनुवाद है। अब आगे देखें 'आशंका' का डोगरी शब्द 'सैंशा' या 'शैंका' हो सकता है 'अनहोना जन शक जगोआ' में धृतराष्ट्र के संवाद का अनुवाद असफल हो गया है। मूल संवाद में जो प्रखरता है, वेदना है, भावगठन है अनुवाद में नहीं हो पाया।

पर वह संसार
स्वत: मेरे अन्धेपन से उपजा था
मैंने अपने वैयक्तिक संवेदन से
जो जाना था
केवल इतना ही था मेरे लिए वस्तु जगत
इन्द्रजाल की माया सृष्टि के समान
घने गहरे अंधियारे में
एक काले बिन्दु से
मेरे मन ने सारे भाव किए थे विकसित
मेरी सब वृत्तियां उसी से थीं परिचालित।

तू नेंई समझें
राजपाट ओ दुनियादारी
अन्ने दा संसार हा ओ
अन्ने दी ही दुनियांदारी
मैं अपने गे अंदर
जिन्ना अनुभव कीता
उस्सी गे मैं संसार
समझेया।

'मेरी मनोवृत्तियां परिचालित थीं' यह इस संदर्भ की मुख्य पंक्ति एवं प्रसंग का स्पष्टीकरण थी पर यही इसमें छोड़ दी गई है और अन्य पंक्तियों के अनुवाद का स्तर भी तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है।

इसके आगे एक उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी "बर्बर पशु, वास वहीं करता है, स्वामी जो हमारे विवेक का नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण—यह सब हैं अंधी प्रवृत्तियों की पोशाकें" का अनुवाद देखिए—

"जित्थे बसदा अन्ना अड़ब पशु ए कोई, राज करै अकली पर बेईए ए नीति मरजादा, भगति—सब झूठे कपटै दे लाबे" में अनासक्ति जैसा प्रमुख भावशब्द छूट गया है, अंधी प्रवृत्ति को 'झूठा कपट' कहना भी उचित नहीं हुआ और सबसे बड़ी बात कि 'सब ही थे अंधी प्रवृत्तियों से परिचालित' को 'सारे गैं हे अन्ने बोले' में सूक्ष्म भावनाओं का शारीरिक स्थूलीकरण मूल रचना के साथ अन्याय है।

इसी प्रकार आस्था अनास्था जैसे शब्दों के डोगरीकरण में अनुवादक को कोई स्पष्ट कल्पना नहीं है यह तथ्य स्थान-स्थान पर स्पष्ट होता है। वह कहीं तो अनास्था शब्द का अर्थ बेवसाई (जो ठीक है) करते हैं कहीं 'रोह रोसा' और कहीं

'वेपरतीती'। अतः ऐसे स्थलों पर अनुवाद स्पष्ट अर्थ नहीं देता। इसी प्रकार एक वृद्ध भिखारी के आगमन के समय की पंक्तियों का अनुवाद भी अर्थ का अनर्थ ही बताता है—

'मैं हूँ वही
आज मेरा विज्ञान सब मिथ्या ही सिद्ध हुआ।'

'उए हां में उए
पर मेरा ओ ज्ञान हा झूठा।'

ज्ञान और विज्ञान का अंतर साधारण पाठक की समझ में भी आ सकता है तथा 'मैं हूँ परात्पर' का अनुवाद भी छोड़ दिया गया है। 'उस दिन यह सिद्ध हुआ' का अनुवाद 'उस दिन ए स्पष्ट होआ' करके 'सिद्ध' का अर्थ 'सावत व प्रमाणत शब्दों में न करके 'स्पष्ट' शब्द में किया गया है जो जानबूझ कर डोगरी भाषा को अकिंचन बनाने का प्रयास लगता है। और देखिए—

'जाने कितने झूठे भविष्य, ध्वस्त स्वप्न, गलित तत्त्व बिखरे हैं कौरव नगरी की गली गली' का अनुवाद—

'मेरे आंगर खबरें किन्ने झूठे लारे, खाली सुखने, इस कौरव नगरी इच थां थां खिल्लरे दे न' 'गली गली' का अनुवाद 'थां थां' शब्दों में कितना हल्का है इस पर विचार न भी किया जाय तो भी 'ध्वस्त स्वप्न' और 'गलित तत्त्व' का अनुवाद मात्र 'खाली सुखने' करना मूल रचना के प्रति घोर अत्याचार है।

और आगे चलिए—अश्वत्थामा के प्रसंग में भी स्थान-स्थान पर अनुवाद का हल्कापन प्रकट होता है जहां कठिनाई आती प्रतीत हुई अनुवादक महोदय कन्नी काट कर निकल गए हैं 'वन में भयानक वन में' का अनुवाद नहीं किया गया। 'अर्धसत्य से ही युधिष्ठिर ने उनका वध कर डाला' 'अद्धा झूठ गलाईए झूठे धर्मपुत्र ने मेरे पूज्य पिता मरोआए।' अनुवाद में जहां 'अद्धा झूठ गलाईए' कहकर मूल के अर्द्ध सत्य को अधिक सशक्त किया गया है धर्मपुत्र के साथ झूठा विशेषण शब्द जोड़ कर पौराणिक पात्रों के प्रति अनुवादक की अश्रद्धात्मक मनोवृत्ति स्पष्ट होती है। मूल रचना में जितने विस्तार के साथ पशुता का मनोवैज्ञानिक ढंग से क्रमिक विस्तार दिखाया गया है, वह डोगरी अनुवाद में नहीं है। 'इस नपुंसक अस्तित्व से' का 'कायर जीना' अनुवाद भी अनुचित ही है

'बध केवल वध, केवल वध

अंतिम अर्थ बने मेरे अस्तित्व का' जैसी महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का अनुवाद कृति में जान डाल देता पर यह क्यों छोड़ दी गई? कुछ समझ नहीं आई।

दूसरी ओर कहीं-कहीं मूल को भूल कर अनुवादक महोदय अपने अनुवाद में ही रस लेने लग जाते हैं भले ही इस प्रयोग में अनुवाद अर्थहीन हो उठे—

'मातुल मैं योद्धा नहीं, बर्बर पशु हूँ
यह तटस्थ शब्द है मेरे लिए अर्थहीन'

और अनुवादक "मैं ते आं इक पशु मराकड़' का विस्तार करने लग जाते हैं— 'मेरा स्वात्म दलकी खाना' तो वह जोड़ते हैं लेकिन 'यह तटस्थ शब्द हैं मेरे लिए अर्थहीन' को शायद निरर्थक समझ कर छोड़ देते हैं।

पात्र की मनःस्थिति की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए धर्मवीर भारती ने दुहराने की पद्धति अपनाई है—

"मैं क्या करूं, मातुल मैं क्या करूं ?
वह मेरे लिए रही नहीं नीति,
वह है मेरे लिए मनोग्रंथि।
किसको पा जाऊं मरोडूं मैं,
मैं क्या करूं मातुल ? मैं क्या करूं"

दोहराव की इस प्रभावशाली पद्धति की अनुवाद में पर्याप्त उपेक्षा हुई है। देखिए-

"के करां मैं मामा जी के करां ?
हत्या करना मेरे गित्ते आदत जन ए
मेरा हुण स्वातम बी इऐ।
जेड़ा वी कोई काबू आई जा।
मन करदा बस दलकी छोड़ां।"

'हत्या करना मेरे गित्ते आदत जन ए' जोड़ कर उस तीव्रता को समाप्त ही कर दिया गया है जो ग्रंथकार का अभीष्ट थी। इसी प्रकार 'सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी' को "बामन रूप बनी जांङन ए मानु सारे" कहना संदर्भों के साथ खिलवाड़ करना है। और कहीं कहीं तो यह खेल इतना बेरहमी से किया गया है कि अर्थ तो अर्थ, संदर्भों के भाव और रस तक को तोड़ मोड़ कर अभिव्यक्ति की अपनी सुविधा के अनुसार बिठाने का अन्यायपूर्ण प्रयत्न किया गया है। नीचे के उदाहरण का अध्ययन करिए—

"आंखों के कोटर से दोनों गोले
कच्चे आमों की गुठली जैसे उछल गए
खाली गढ्ढों में काला लोहू उबल पड़ा'

भारती ने इन पंक्तियों में कच्चे आम की गुठली के उछल आने एवं काले लहु के उबल आने में जो गत्यात्मक चित्रात्मकता एवं बीभत्स रस का परिपाक किया है वह निम्न अनुवाद में ढूंढने से भी नहीं मिलता—

दिखदे दिखदे दोए डेल्ले अक्खीं विच्चा बाहर आई गे
नैनें दे गत्तें अंदर काली रत्त लगी पेई छलकन'

उबलने के स्थान पर 'छलकन' शब्द का प्रयोग अर्थ का अनर्थ तो है ही संदर्भ में अभीष्ट बीभत्सता को शृंगारिक शब्दावली का प्रयोग करके मूलकृतिकार के यशस्तंभ 'अन्धा युग' को अत्यंत हल्के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा भी स्पष्ट है। क्योंकि ऐसा तो लगता नहीं कि उबलने और छलकने के महान् अंतर को अनुवादक महोदय न जानते हों।

ऐसे उदाहरण तो पचासों और भी दिए जा सकते हैं, लेकिन विस्तार भय से अब इतना ही कहना चाहिए कि 'अन्ना युग' एक असफल अनुवाद है, मूलकृति एवं अनुवाद को पढ़ कर यह तथ्य बड़ी सरलता से उजागर होता है। हां, केवल अनुवाद ही पढ़ें तो त्रुटियां कम अखरती हैं, और मूल नाटक के वैचारिक महत्त्व के कारण अनुवाद अच्छा ही है। क्योंकि इसमें काव्यात्मकता है और 'अंधा युग' जैसी कृति का डोगरी में अनुवाद किया जाना भी एक साहसपूर्ण कदम है जिसके लिए अनुवादक महोदय बधाई के पात्र हैं।

और अब अंतिम पुस्तक जो हमारे सामने है वह है बाबूराम सक्सेना की हिन्दी पुस्तक 'सामान्य भाषा विज्ञान' इस ग्रंथ का अनुवाद श्री बंसी लाल गुप्ता ने किया है और उसमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उदाहरण डोगरी भाषा में से दिए गए हैं। ध्यान से अनुवाद को पढ़ा जाये तो वर्तनी और प्रयोग की समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। कई शब्दों का कोई एक सर्वमान्य रूप न होने के कारण स्थिरीकरण की बात भी बार बार उठती है। शब्दों को हर कोई अपने ढंग से लिखता है और लेखक इन समस्याओं का कोई सर्वमान्य समाधान नहीं दे पाया है। यह तब तक संभव भी नहीं जब तक कोई प्रामाणिक डोगरी शब्दकोष सामने न हो क्योंकि गलत ठीक का निर्णय तो शब्दकोष द्वारा ही हो सकता है। बहुत से शब्द सीधे संस्कृत से लिए गए हैं और बहुत से अपने ढंग से अपनाए गए हैं, लेकिन एक बात स्पष्ट है कि इस ग्रंथ के छपने से डोगरी में वैज्ञानिक ग्रंथों के अनुवाद की एक अच्छी शुरूआत हुई है और अच्छी स्तरीय डोगरी भाषा में अनुवाद की हुई यह पुस्तक डोगरी अनुवादों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

हिन्दी हमारे देश की राष्ट्रभाषा तो है ही। विभिन्न जनपदीय भाषाओं बोलियों की संपर्क भाषा भी है, कई प्रकार के ज्ञान विज्ञान की स्रोतस्विनी है। डोगरी में अनुवाद साहित्य को समृद्ध करने के लिए अनंत विधाओं एवं विषयों की पुस्तकें मिल सकती हैं। डोगरी में कहानियां, नाटक, उपन्यास, इतिहास एवं थोड़ा बहुत वैज्ञानिक साहित्य व्याकरण आदि सब प्राप्य हैं। डोगरी भाषा में लगभग तीन सौ के करीब लेखक हैं लेकिन विस्मय की बात है कि इन तीन सौ में लगभग २५० कवि होने पर भी अभी तक हिन्दी में से प्रतिनिधि काव्यों के अनुवादों के नाम पर बहुत अल्प प्रयत्न हुए हैं और न ही हिन्दी की समृद्ध साहित्य परंपरा से डोगरी ने कोई विशेष लाभ उठाया है और लाभ उठाया भी कैसे जाये ? डोगरी में अभी पाठकों एवं डोगरी पुस्तकों के खरीदारों की भी तो प्रतीक्षा है।

डोगरी साहित्य की नयी प्रवृत्तियां

—मदनमोहन शर्मा

डोगरी साहित्य की कहानी संक्षिप्त सी है। वस्तुत: डोगरी साहित्य का जन्म सन् सैंतालीस के पश्चात् हुआ। उससे पहले डोगरी भाषा में केवल तीन पुस्तकें थीं। इनमें से दो श्री दीनूभाई पंत की कविताओं के संग्रह 'गुतलू' और 'मंगू दी छबील' थे और तीसरी पुस्तक थी श्री भगवत्प्रसाद साठे की आठ लघु कहानियों का संग्रह। इनके अतिरिक्त श्री हरदत्त शास्त्री की कुछ एक कविताएं तथा भजन थे जिन्हें वह कथा मंडलियों में गाते और समाज में फैली हुई बुराइयों की ओर ध्यान दिलाकर जनता को नियमानुसार अथवा सादा जीवन बिताने का उपदेश देते। इनके अतिरिक्त दो सौ वर्ष पहले महाराजा रणजीत देव के काल के कवि 'दत्तू' का एक गीत 'किलिया बत्तना छोड़ी दित्ता' (अकेले घूमना छोड़ दिया) ; महाराजा रणबीर सिंह के काल के कवियों पंडित 'गंगा राम' और 'मूलराज धन' की कुछ कविताएं तथा श्री हरदत्त शास्त्री के समकालीन कवि मेहता मूलराज का एक गीत 'जीना पहाड़ें दा जीना' सभी अप्रकाशित थे।

सन् सैंतालीस में देश स्वतंत्र हुआ तो हमारे राज्य में भी राजनैतिक परिस्थितियों ने पलटा खाया। जम्मू प्रांत के साहित्यकारों तथा विद्वानों पर इन बदलती प्रवृत्तियों ने प्रभाव डाला। डुग्गर की जनता में राजनैतिक तथा सामाजिक जागृति लाने के लिए जम्मू के कुछ युवा कवि आगे बढ़े। लोगों में जागृति लाने के लिए आवश्यक था कि वह अपने विचार ऐसी भाषा में प्रकट करते जिसे सभी भली प्रकार समझते। उर्दू, हिन्दी या कोई दूसरी भाषा इस प्रसंग में प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकती थी ; इसलिए डोगरी में कविताएं लिखी जाने लगीं। जम्मू प्रांत के गांव-कस्बों में बार-बार कवि सम्मेलन किये जाने लगे और पहली बार हज़ारों लोगों ने एक ऐसी भाषा के माध्यम से जिसे

वह हज़ारों वर्षों से बोलते चले आ रहे थे अपनी वेदना का अनुभव किया, अपने देश के प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण किया, बावा जित्तो के बलिदान की अमर गाथा, वीर गुलाब, जोरावर सिंह, मियां डीडो और दूसरे महापुरुषों की गौरव-गाथाएं सुनीं। जिसमें अगणित लोकगीत, कार्के, बारें, भाखें तथा लोक कथाएं थीं। परन्तु इस भाषा में अभी तक व्यवस्थित साहित्य का निर्माण न हो पाया था। डोगरी के कवियों की रचनाओं की जनता ने खूब सराहना की, दिल खोल कर दाद दी और इस प्रकार आरम्भ ही से डोगरी कविता का जन सामान्य से सम्पर्क स्थापित हो गया और इस सम्पर्क ने हमारे कवियों में वह आत्म-विश्वास उत्पन्न कर दिया जिसकी प्रारम्भ में हर कवि को आवश्यकता होती है।

कवियों की इस छोटी सी टोली ने शीघ्र ही एक कारवां का रूप धारण कर लिया। श्री साठे के बाद बहुत से गद्य लेखक सामने आए और डोगरी भाषा में कहानियां, उपन्यास, नाटक, निबंध तथा शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक लेख लिखे जाने लगे। भाषा निखरती-संवरती गयी और इसमें प्रौढ़ता आती गयी। पुस्तकों में निरंतर वृद्धि होती गयी और आज, तीस वर्ष बाद, हमारी भाषा में लगभग पांच सौ पुस्तकें छप चुकी हैं और साहित्य की हर विधा में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है।

डोगरी कविता

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, डोगरी साहित्य का जन्म विशेष परिस्थितियों में हुआ, डोगरी के कवियों के सम्मुख कतिपय उद्देश्य थे जिन्हें पूरा करने के लिए उन्होंने जनता से सम्पर्क स्थापित किया था। वह चाहते थे कि डुग्गर के भोले-भाले लोगों को मानसिक और भावात्मक स्तर पर सचेत किया जाए, उन्हें बदलती परिस्थितियों के प्रति सचेत किया जाए। डोगरा राज के खत्म हो जाने पर वह जिस हीनता की भावना से ग्रस्त हुए थे उससे उन्हें छुटकारा दिलाया जाए। इस लिए डोगरी के अधिकांश काव्य में देशभक्ति का स्वर प्रमुख रूप से उभरा है; अपने पर्वतीय प्रदेशों की प्राकृतिक सुषमा और ग्रामीण जनसमूह की दीन-हीन अवस्था का प्रभावपूर्ण उल्लेख है; डोगरों की आन-बान, गौरव तथा शौर्य की गाथाएं हैं। जाति भेद, मुकदमेबाजी, मद्य पान तथा अन्य व्यसनों का निषेध है। साम्प्रदायिक घृणा का प्रचार करने वालों की धूर्तता को समझने तथा उससे बचने का उपदेश है। स्वाधीनता के पश्चात् शोषक वर्ग की लूट-खसूट तथा शोषित वर्ग की दीनावस्था और विवशता का उल्लेख है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्राज्यवादियों के षड्यंत्रों, कोरिया, कांगो, वियतनाम और बंगलादेश में हुए मानवता के रक्तपात के विरुद्ध आवाज है। स्थिर विश्व-शान्ति स्वर्णिम स्वप्न है।

प्रगतिशील, राजनैतिक और देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत कविताएं लगभग हर कवि ने लिखी हैं। श्री हरदत्त की कविताएं **'मेरा देस'**, **'डोगरा देस'**, **'अदालती दा धंदा'**, श्री कृष्ण स्मैलपुरी की **'सुर्ग देस'**, श्री रामलाल शर्मा की कविता **'चेतावनी'**, श्री रामनाथ शास्त्री की **'सन्नासर'**, **'चक्की'** तथा **'इक रात्ती दा खीरी बेला'**, श्री रघुनाथ सिंह की कविताएं **'प्रभात'**, **'डोगरा देस'**, श्री दीनू भाई पंत की **'मेरे देसै दा छलैपा'**, **'उट्ठ मजूरा'** और **'अड़ब बैड़ा'**, श्री वेदपाल दीप की **'गोरांला, काला मानू'**, श्री मधुकर की कविताएं **'कोहलू और ऐमनी'**, श्री यश शर्मा की **'अमन'**, श्री सपोलिया की रचनाएं **'कण्डी, साढ़ा भारत'**, श्री अलमस्त की **'सुर्ग नई जान होन्दा, जाग जाग जाग** तथा **शराबी ढोला'**, श्री शम्भूनाथ की **'वाहदरें दी जिम्मावारी'**, श्री तारा स्मैलपुरी की कविताएं **'बावे, कुन साब न लंगा दे और फौजी पैंशनर'** तथा अन्य कवियों की दरजनों कविताएं ऐसी हैं जिनमें उपदेश हैं, राजनीति की झलक है और देश-प्यार की भावना है।

डोगरी कविता में रूमानी प्रवृत्ति को भी विशेष स्थान प्राप्त है परन्तु ऐसे कवियों की संख्या अधिक नहीं है। अपनी रचनाओं में न ही उन्होंने परीलोक की कहानियां कही हैं और न ही वह सौन्दर्यान्वेषन में अंग्रेज़ी कवियों की भान्ति अतीत की मोहक स्मृतियों में खो जाते हैं। वह केवल प्रकृति की सुन्दरता का बखान करते हैं या अपने पहाड़ों पर बसने वालों की प्यार भरी कहानियों की ही चर्चा करते हैं। उनकी रचनाओं में यौन सम्बन्धों अथवा मानसिक द्वन्द्वों की चर्चा नहीं के बराबर है। अधिकतर गीतों में प्रियतम से बिछुड़ी नायिका को तड़पते हुए, विरहा के गीत गाते दिखाया गया है।

डोगरी के रूमानी कवियों में श्री परमानन्द अलमस्त को विशेष स्थान प्राप्त है। उनकी कविता में धुंध में लिपटे पहाड़ों, गुनगुनाते नदी-नालों, पेड़ों पर पड़े झूलों, घरों के आंगन में खड़ी उदास गोरियों तथा विरहणियों के दिलों में आग सी लगाती वर्षा की फुहारों का चित्रण है।

डोगरी के दूसरे बड़े रूमानी कवि श्री केहरि सिंह मधुकर हैं। परन्तु उनकी रचनाओं में रूमान के साथ-साथ वास्तविक यथार्थ की भी गहरी छाप है। वह

अपनी अनोखी उपमाओं से अपनी कविताओं में विचित्र वातावरण उत्पन्न करते हैं और पाठक को भावनाओं के जाल में फंसाकर किसी अनदेखी, अनजानी दुनियां में ले जाते हैं जहां स्वप्नों की बारादरियां हैं, महल मीनारें हैं, चटकी हुई चान्दनी है, गहरी नीली झीलें हैं तथा उन झीलों में तैरते हुए राजहंस हैं। परन्तु जैसे ही पाठक कल्पना के संसार में पहुँचकर आनन्द विभोर होने लगता है तो कवि उसका ध्यान जीवन के किसी ठोस सत्य की ओर आकर्षित करता है और पाठक एक झटके के साथ पुनः धरती पर आ खड़ा होता है।

डोगरी की रूमानी कविता में श्री चरणसिंह की बहुचर्चित कविता **दो किगरे**, श्री यश शर्मा के गीत और श्रीमती पद्मा सचदेव की कविताएं **देस नकाला** और **मन करदा ए दिन बन्नी लैं** बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

१९६५ के पश्चात् हमारे कवियों ने उर्दू शायरी की प्रसिद्ध विधा 'गज़ल' की ओर ध्यान देना आरम्भ किया और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। साहित्यिक गोष्ठियों तथा कवि सम्मेलनों में जितनी दाद डोगरी गज़ल को मिली दूसरी किसी कविता को प्राप्त नहीं हुई और गज़ल की इसी प्रशसा ने लगभग सभी डोगरी कवियों से गज़लें लिखवाईं। परन्तु इस क्षेत्र में जिन कवियों ने अपने निजी रंग के कारण विशेष नाम पैदा किया उनमें श्री वेदपाल दीप, श्री शम्भू नाथ, राम लाल, नृसिंह देव जमवाल और अश्वनी मगोत्रा उल्लेखनीय हैं।

डोगरी के कुछ कवियों ने आध्यात्मिकता तथा वेदान्त दर्शन को लेकर भी रचनाएं की हैं। देवी-देवताओं की आराधना की भावना से ओत-प्रोत डॉ० करण सिंह के कुछ भजन बहुत प्रसिद्ध हुए हैं।

डोगरी कविता के इस संक्षिप्त वृत्तांत से यह महत्वपूर्ण बात उभर कर सामने आती है कि हमारी कविता कवि सम्मेलनी कविता है और इसलिए इसे रिवायती भी कहा जा सकता है।

हमारे बहुत से कवि जाने या अनजाने में मार्क्सवाद को आधार बनाकर आरम्भ की गई प्रगतिशील धारा से भी प्रभावित रहे हैं और सच तो यह है कि उसका हैंग ओवर आज तक दूर नहीं हो पाया। दूसरी भाषाओं के साहित्यकारों ने दूसरे महायुद्ध के पश्चात् टूटती हुई इन्सानी कदरों की वेदना, भीड़ में खोए हुए मनुष्य के अकेलेपन तथा उसकी कुण्ठा और मानसिक उथल-पुथल को पहचाना और उसकी चर्चा की परन्तु हमारे अधिकतर कवि पुरानी डगर पर ही चलते रहे।

सम्भवतः इन्हें देश तथा विदेश की उन्नत भाषाओं में रचे गये नवीन साहित्य तथा वहां के वैचारिक एवं कलात्मक आन्दोलनों का ज्ञान नहीं था। केवल स्वर्गीय चरणसिंह की कुछ कविताओं में मानसिक उथल-पुथल तथा द्वन्द्व की झलक दृष्टिगोचर होती है। जैसे उनकी रचना 'बाह्‌न' में भीड़ में खोए हुए मनुष्य के दिल की वेदना का बखान है तथा कविता 'जीवन' में वह कह उठते हैं कि जीवन मिथ्या है, एक बोझ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। 'बाह्‌न' का एक टुकड़ा देखिये :—

इस भीड़ा बिच
इस रौले बिच
चला ना भ्रां में
झकदे झकदे
अनगिन लोड़ें
गर्जें थोड़ें
आसें मेदें दी इक खासी
बाह्‌न संभाले

(इस भीड़ भरे संसार में, इस कोलाहल में, मैं भी झिझक-सहम कर, अगणित आकांक्षाओं और आवश्यकताओं, आशाओं और इच्छाओं का एक झुण्ड संभाले चल रहा हूँ।)

और कविता 'जीवन' का एक टुकड़ा देखिये :—

जून—
जो खबरै कुस भड़ूए दी देन बेअर्थी
ते इसदा कोई अर्थ बी ऐ ताँ
ओ फी इयै होई सकदा ऐ
जे जीवन इक ढोल पराना
जो मानू दे गल पेदा
जां कुसै पाए दा ऐ
हर गल पेदे ढोलै गी
औखे सौखे हर मानू गी
खिन-खिन नित बजाना पौन्दा
ते इस चाल्ली इसी बजान्दे

आप मुहारे ऊंगा चलान्दे
जे लग्गै टन्कार चज्जै दी
तां घनघोर चबक्खै पौन्दी
नईं तां लड्डन जन गै ठनकै।

(यह जीवन जाने किस भड़वे की देन है। क्या इसका कोई अर्थ भी है? यदि है भी तो केवल इतना कि जीवन एक पुराना ढोल है जो मनुष्य के गले से लटक रहा है और इसे हर पल बजाना ही पड़ता है। इस ढोल को पीटते-पीटते यदि सुरीली थाप उभर आए तो चारों ओर गूंज सी उत्पन्न होती है। नहीं तो यह ढोल पशुओं के गले में लटकते लकड़ी के भारी टुकड़े की भान्ति धरती से टकरा-टकरा कर बेसुरा तथा अर्थहीन शोर करता रहता है।)

निराशा, जीवन के मिथ्या होने का एहसास, एकाकीपन, आकांक्षाओं की पराजय की यह प्रवृत्ति चरणसिंह के अतिरिक्त शिवराम दीप, जितेन्द्र उधमपुरी और ओ० पी० शर्मा सारथी की रचनाओं में भी पाई जाती है, परन्तु इन कवियों की रचनाओं में मनोवैज्ञानिक तथा भावुक चित्रण नहीं मिलता और इसलिए यूं लगता है मानो इन कवियों का एकाकीपन, इनकी बेबसी और लाचारी नकली है, एकदम ओढ़ी हुई।

डोगरी गद्य

वैसे तो डोगरी गद्य में 'गीता' और 'बाइबल' के अनुवाद बहुत पहले हो चुके थे। राजदरबारों के लिखे हुए पत्र तथा राज्यादेश भी डोगरी भाषा में मिलते हैं। दो सौ वर्ष पुरानी एक पांडुलिपि **'राजवली'** भी पटियाला म्यूज़ियम में सुरक्षित है परन्तु गद्य के इन सभी नमूनों की ऐतिहासिक महत्ता हो तो हो इन्हें साहित्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए साहित्यिक डोगरी गद्य का आदि रचयिता भगवत्प्रसाद साठे को ही कहा जा सकता है जिनका कहानी संग्रह **'पहला फुल्ल'** १९४६-४७ में छपकर सामने आया।

'पहला फुल्ल' के बाद डोगरी में गद्य की दूसरी पुस्तक **'सूई धागा'** थी जो १९५७ में छपी और जिसे श्रीमती ललिता मेहता ने लिखा था। १९५८ में डोगरी कहानियों के चार संग्रह **'काले हत्थ'** **(श्री वेद राही)**, **'पैरें दे नशान'** **(श्री राम कुमार अबरोल)**, **'खीरला मानू'** **(श्री मदनमोहन)** तथा **'कोयले दियां लीकरां'** **(श्री नरेन्द्र खजूरिया)** छपकर सामने आए। इसी समय डोगरी का पहला नाटक 'नमां ग्रां' लिखा गया। १९५८ तथा १९६० के बीच दो और नाटक

'देहरी' (श्री रामकुमार अबरोल) और 'पहाड़ें दे अत्थरू'' (श्री वेद राही) मुद्रित हुए। फिर डोगरी का पहला उपन्यास 'धारां ते धूड़ां' (श्री मदनमोहन) छपा और अंततः श्री नरेन्द्र खजूरिया का उपन्यास 'शानो' और श्री वेद राही का 'हाड़ बेड़ी ते पत्तन' छपे। मदनमोहन की कहानियों का दूसरा संग्रह 'चाननी रात' और नरेन्द्र खजूरिया की बच्चों के लिए लिखी गयी रोचक कहानियां तथा अस भाग जगाने आले आं दो पुस्तकें छपकर हमारे सम्मुख आईं और फिर डोगरी गद्य में मानो एक बाढ़ सी आ गयी। नयी-नयी कहानियां, नाटक, निबंध, आलोचनात्मक, शोधपूर्ण तथा दूसरे साहित्यिक लेख लिखे जाने लगे और आज डोगरी भाषा में गद्य की लगभग दो सौ पुस्तकें छप चुकी हैं और डोगरी के गद्य लेखक कवियों के समान्तर (साथ-साथ) चल रहे हैं।

डोगरी कहानी

आजतक डोगरी में लगभग साढ़े तीन सौ कहानियां लिखी जा चुकी हैं और अट्ठाईस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

१९६२ तक लिखी गयी डोगरी कहानियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि डोगरी कहानीकारों का ध्यान डुग्गर के ग्रामीण तथा पहाड़ी जीवन को चित्रित करने, वहां की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सर्वेक्षण करने, समाज में फैली बुराइयों का विरोध करने और डोगरी गद्य की नोक-पलक संवारने में लगा रहा। तब का कहानीकार शहरी जीवन की समस्याओं से कन्नी कतराता दिखाई देता है।

१९६२ से पहले की लिखी हुई लग-भग सभी कहानियों के पात्र ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। डुग्गर के किसान की दीनता, ग्रामीण समाज में फैली कुरीतियों जैसे दोहरी, बेमेल विवाह, सास बहू के झगड़े, विधवाओं की वेदना, साहुकारों की लूट-खसूट, बच्चों पर किए जाने वाले अत्याचार आदि विषय डोगरी कहानियों में मिलते हैं।

उदाहरणतः भगवत्प्रसाद साठे की कहानियां 'सहारा' ते 'जल्ली', और श्री नरेन्द्र खजूरिया की कहानी 'दिन बार' की नायिका वह विधवाएं हैं जो समाज के अत्याचारों के कारण दुःख भरा जीवन व्यतीत कर रही हैं। श्री मदनमोहन की कहानी 'जल्ली' की नायिका एक गूंगी युवा नारी है जो पुरुषों की क्रूरता का शिकार होकर मर जाती है। नरेन्द्र खजूरिया की कहानियां 'परमेशरा दी करनी' तथा 'की फुल्ल बनी गे अंगारे' गरीब और दलित जातियों के बच्चों की दुःखभरी

कहानियां हैं। रामकुमार अबरोल की कहानी 'खेतरें दी बण्ड' में संयुक्त परिवार के लड़ाई-झगड़े के कारण खेतों के विभाजन की शोकपूर्ण कथा है। साठे की 'दोहरी', मदनमोहन की 'पहाड़ो कॉं', नरेन्द्र खजूरिया की 'कोयले दियां लीकरां' और रामकुमार अबरोल की 'गैरत दा मुल्ल' ऐसी कहानियां हैं जो रोटी के कुछ टुकड़ों के लिए बिकती हुई अबला नारियों की व्यथा व्यक्त करती हैं और जिनमें दोहरी के बुरे रिवाज को विषय बनाया गया है।

इसके अतिरिक्त श्री धर्मचन्द्र प्रशान्त और श्री साठे किसी ऐतिहासिक घटना को लेकर उसे रूमानी रंग देते हैं और कहानी कुछ इस ढंग से लिखते हैं कि पाठक आश्चर्यचकित होकर भय से भी घिर जाता है। प्रशान्त की कहानियां **खीरली बल, मोहर गढ़ दी** और **नूरजहां दा मुकद्दमा** और साठे की कहानियां **अमान** और **पहला फुल्ल** इसी प्रवृत्ति को चिन्हित करती हैं।

इस समय की कुछ कहानियों में युद्ध की बरबादी और विभीषिकाओं को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जैसे मदनमोहन की कहानी **जवाबी चिट्ठियां** और साठे की रचना **हौखी** युद्ध का विरोध करती हैं।

वेद राही और रामकुमार अबरोल की कुछ कहानियों के पात्र शहर से सम्बंधित हैं परन्तु जैसा कि मैंने पहले कहा है १९६२ से पहले की कहानियों के लेखक शहर के जीवन से कटे-कटे प्रतीत होते हैं। उस समय यह समझा जाता था कि डोगरी कहानी को अपना अलग रंग तथा स्थान बनाने के लिए पहाड़ी और ग्रामीण जीवन का ही सहारा लेना चाहिए।

१९६२ तक की डोगरी कहानियों में उपदेशात्मकता का पट सर्वाधिक रहा है। इनके अधिकतर पात्र शोषित हैं या आदर्शवादी अथवा भावनाप्रधान। शोषित पात्र हमसे सहानुभूति चाहते हैं, दया की भीख मांगते हैं तो आदर्शवादी पात्र ऊंचे स्वरों में उपदेश देने में व्यस्त प्रतीत होते हैं। फिर भी इस समय में रची गयी आधा दर्जन कहानियां डोगरी साहित्य की उच्चकोटि की रचनाएं मानी जा सकती हैं।

१९६२ के बाद विषय की दृष्टि से डोगरी के कहानीकारों ने व्यापक फलकों की तलाश की और उन्होंने नये-नये विषय लिए, नये-नये शिल्प अपनाए। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने लगे, यौन सम्बंधी समस्याओं की चर्चा होने लगी। वर्ग संघर्ष, नकली शहरी जीवन का खोखलापन, समाज में फैला भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, युद्ध से टूटते मानवीय सम्बन्ध, साम्प्रदायिक दंगे और ऐसे कई

विषय लेकर डोगरी कहानियां लिखी जाने लगीं। १९६२ और १९७० के बीच लिखी गयी कहानियों के चरित्र-चित्रण में प्रौढ़ता और विषयों में नवीनता आती गयी, नये-नये प्रयोग होते गये और इस प्रकार डोगरी कहानी, उर्दू हिन्दी तथा दूसरी भाषाओं की कहानियों के समकक्ष आ खड़ी हुई। इस समय की कहानियों के पात्र निडर हैं, सत्यवादी हैं। हम केवल उनके चेहरे, उनकी वेश-भूषा ही नहीं, उनकी चेतना तथा स्वाभाविक रूप को देख सकते हैं। उनके दिलो-दिमाग में उठने वाले ज्वारभाटे का शोर सुन सकते हैं। वह भावुक जीवन नहीं जीते, ठोस धरती पर खड़े होकर जीवन के प्रत्येक सुख-दुःख का हंसते हुए सामना करते हैं। वह समाज के चेहरे पर से मुखौटे को उतार फेंकने की चेष्टा करते हैं और अपने विचारों को स्पष्टवादिता से अभिव्यक्त करने का साहस रखते हैं।

इन दिनों की लिखी डोगरी कहानियों में मदनमोहन की रचनाएं **मेरी गली दा पाप, सप्प, मुन्स मरावी, इक उल्लरदी लोथ, माफी, सीप बिजन मोती,** नन्द **शाह दी बिल्ली, रानी जी, शंकरी दा बुड्डा** और नरेन्द्र खजूरिया की कहानी **कास्तू दा काला तित्तर,** वेद राही की **दरेड़,** रामनाथ शास्त्री की कहानी **बदनामी दी छां,** नृसिंह देव जमवाल की **जमदर** और ओ० पी० शर्मा की **सुक्का बरूद** मनोवैज्ञानिक तथा यौन समस्याओं को चित्रित करने वाली उच्चकोटि की कहानियां हैं।

श्री नरेन्द्र खजूरिया की **अपना अपना धरम, वक्खरियां वक्खरियां जीवां, इनामी कहानी** और मदनमोहन की **मुंडू, दो लफाफे, इक आदमी दी मौत** तथा **कूक** नाम की कहानियों में परिवर्तित होते हुए मानवीय मूल्यों को उकेरा गया है, आर्थिक क्राइसिस के शिकार लोगों की बेवसी है। वेद राही की कहानी **आले,** प्रशान्त की कहानी **मलायम हत्थ,** नरेन्द्र खजूरिया की रचनाएं **धागे ते चटान,** तथा **मां तूं लोरी गा,** ओ० पी० शर्मा की **लाम,** मदनमोहन की कहानियां **सूरज सद्दरो दा, बत्तखी लाश** तथा **सपाई दी चिट्ठी सपाई दे नां** में युद्ध से होने वाली बरबादी, देश की रक्षा के लिए जान देने वाले सिपाहियों की वीरता तथा शौर्य को बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

बासठ से लेकर सत्तर तक की रचनाओं के पात्र जीवन के हर एक क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं। अध्यापक, कलर्क, नौकर, दुकानदार, सिपाही, व्यापारी, बड़े अफसर, पूंजीपति, नेता, किसान इन कहानियों के नायक हैं। नारी पात्र भी ग्रामीण घरेलू औरतें हैं अथवा पढ़ी-लिखी नगर की युवतियां जो मन की बात कहते झिझकती नहीं तथा जीवन का बड़े साहस से सामना करती हैं।

सत्तर के बाद छपे कहानी संग्रहों में श्री बंधु शर्मा का कहानी संग्रह **परछामें**, ओम गोस्वामी के कहानी संग्रह **न्हेरे दा समुन्दर** तथा **नैं ते पोटे** और छत्रपाल का कहानी संग्रह **टापू दा आदमी** डोगरी के कहानी साहित्य में बड़ी महत्ता रखते हैं। इन तीन कहानीकारों में से जिस कहानीकार ने डोगरी कहानी को एक नयी दिशा देने का प्रयत्न किया है वह है 'छत्रपाल'। यह सच है कि इन्हें डोगरी भाषा पर पूरा अधिकार नहीं, परन्तु इनका लेखन सम्भावनायुक्त है, इनके चरित्र-चित्रण में बड़ी गहराई है। इनकी कहानियों **सूंकदियां चीड़ां, ललितादित्य दे मारतंड** तथा **टापू दा आदमी** ने डोगरी साहित्य में बहुमूल्य वृद्धि की है।

श्री छत्रपाल अपने पात्रों का गहरा अध्ययन करते हैं और उनके दिल तथा दिमाग में छुपे रहस्यों को बड़े कलात्मक ढंग से व्यक्त करते हैं।

सत्तर के पश्चात् डोगरी कहानी साहित्य में कुछ नये कहानीकार भी उभरे हैं और उनमें श्री चमन अरोड़ा तथा श्री ललित मगोत्रा के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री अरोड़ा ने दर्जन भर कहानियां लिखी हैं जिनमें मध्यवर्ग के मानसिक द्वन्द्व तथा शहर के नकली जीवन और आदर्शवाद के खोखलेपन को विषय बनाया गया है।

डोगरी उपन्यास

डोगरी में अभी तक छोटे बड़े आठ उपन्यास छप चुके हैं जिनमें दो—**हाड़ बेड़ी ते पत्तन** तथा **दरार** तो वेद राही की रचनाएं हैं, **धारां ते धूड़ां** मदनमोहन ने, **शानो** नरेन्द्र खजूरिया ने, **फुल्ल बिना डाली** श्री वत्स विकल ने, **बदसीस** कुमारी शकुन्तला ने, **जिस बेलै न्हेरा होआ** पशोरी लाल ने तथा **सांझी धरती बखले मानू** नृसिंह देव जमवाल ने लिखे। इसके अतिरिक्त एक दर्जन दूसरी भाषाओं के उपन्यासों का डोगरी में अनुवाद भी हुआ है।

डोगरी के मौलिक उपन्यासों में **धारां ते धूड़ां, हाड़ बेड़ी ते पत्तन** तथा **शानो** में डुग्गर के ग्रामीण और पहाड़ी जीवन का उल्लेख है। इन तीनों पुस्तकों का डोगरी साहित्य में ऐतिहासिक महत्त्व है। तीनों उपन्यासों में गांव और पहाड़ों की समस्याओं को लेखकों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। 'शानो', 'तारो' तथा 'कुन्तो' डोगरी नारी के तीन अलग-अलग चेहरे हैं परन्तु तीनों नारी पात्रों में शोषण और अत्याचारों से लड़ने की अपार शक्ति है। तीनों उपन्यासों में उज्ज्वल भविष्य की झलक दिखाई देती है।

चौथा उपन्यास **फुल्ल बिना डाली** डोगरी भाषा का गौरव है। इसकी नायिका **सोमा** ऐसी नेक, योग्य तथा पवित्र आत्मा है जो इस धरती पर रहकर, जीवन के दुःख-सुख भोगकर भी बहुत ही बलवान् चरित्र की बनी रहती है। उपन्यासकार ने नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है और 'सोमा' को एक जीता जागता पात्र बना दिया है। इस उपन्यास में दूसरे विवाह के बाद पहले पति की याद से नारी के दिमाग में उठने वाले तूफानों को जिस प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है—ऐसा शायद ही किसी उर्दू, हिन्दी या पंजाबी के उपन्यास में किया गया होगा।

डोगरी के शेष उपन्यासों में श्री नृसिंहदेव जमवाल का उपन्यास **सांझी धरती बखले मानूं** उल्लेखनीय है। इसका कथानक देश के विभाजन से पहले के एक हिन्दू और एक मुसलमान फौजी अफसर की मित्रता तथा प्यार की कहानी पर आधारित है जो भारत पाकिस्तान युद्ध में एक बार फिर मिलते हैं। यह उपन्यास क्लेवर में डोगरी के बाकी सभी उपन्यासों से बड़ा है और इसका विषय भी सबसे अलग है।

डोगरी निबन्ध

डोगरी भाषा में पहला आलोचनात्मक लेख 'डोगरी नसर, एक जायज़ा' १९६५ में लिखा गया। इसके पश्चात् बहुत से शोध सम्बन्धी तथा आलोचनात्मक लेख लिखे गये और धीरे-धीरे साहित्य की यह विधा भी परवान चढ़ती गयी।

ऐसे निबन्ध जो हर प्रकार से साहित्यिक हों अथवा जिनमें लेखक ने अपने दिल की कोमल भावनाएं या दिमाग की अनोखी कल्पनाएं हास्यरसात्मक ढंग से या पूर्ण गंभीरता से व्यक्त की हों तथा जिनमें बौद्धिकता की तुलना में शिल्प तत्त्व की प्रधानता हो डोगरी में बहुत कम लिखे गये हैं। फिर भी इस दिशा में प्रयास करने वालों में श्री रामनाथ शास्त्री, लक्ष्मी नारायण, शक्ति शर्मा और विश्वानाथ खजूरिया के नाम उल्लेखनीय हैं।

अनु०—जितेन्द्र शर्मा

●

जम्मू में रंगमंच की परम्परा

—जितेन्द्र शर्मा

डुग्गर-प्रदेश में नाटकों की परम्परा का सूत्रपात सन् १९४८ के आसपास हुआ। निस्संदेह इससे पूर्व इस प्रदेश में यह कला महाराष्ट्र के तमाशा, बंगाल के यात्रागान, उत्तर भारत की नौटंकी अथवा उड़िया के लोक-नाटक—यात्रा, पाला, स्वांग तथा दशकरिया आदि के समकक्ष समृद्ध नहीं थी, किन्तु डुग्गर में प्रचलित टड्डु अथवा कोतल और जागरना लोक-नाट्य के सदियों पुराने कला रूप रहे हैं। टड्डु अथवा कोतल में किसी वृद्ध अथवा वृद्धा की मृत्यु का शोक तुड़वाने के लिए सगे-सम्बन्धियों द्वारा स्वांग भरकर मृतक की नकल उतारी जाती है। समधियाने की स्त्रियां इस अवसर पर नृत्य, गीत का प्रदर्शन करती हैं। वस्तुतः इस उत्सव द्वारा स्त्री-पुरुष—दोनों ही मिलकर, शोक में डूबे हुए परिवार को पुनः दैनिक जीवन की चर्या में घुलमिल जाने का अवसर प्रदान करते हैं। इस उत्सव पर मची धूम का प्रभाव आस-पास के घरों पर ही नहीं अपितु समूचे गांव पर पड़ता है। इसमें टड्डु, नफीर, कैहू्ल, ढोलकी जैसे लोकवाद्य-यंत्र अपने-अपने सुर-ताल में बज उठते हैं और इनके बजने से एक अनूठे वातावरण की सृष्टि होती है।

जागरना एक निश्चित रूपाकार वाली लोक-कला अथवा लोक-नाटक है। लड़के के विवाह के अवसर पर जब घर के सभी पुरुष बरात के साथ चले जाते हैं तो गांव-घर की स्त्रियां पुरुषों की नजरों से दूर, विवाह वाले घर के, किसी एकांत कोने में एकत्र हो जाती हैं। घर के अन्दर या आंगन में घेरा बन्ध जाता है। इसी घेरे के मध्यभाग में इस लोक-नाटक का मंच अवस्थित होता है। तब इस कला में दक्ष स्त्रियां दाढ़ी, मूंछ और जटाएं लगाए, पाउडर-राख आदि का

लेप कर पात्रानुरूप वस्त्र धारण किए मैदान में उतर पड़ती हैं। वे भिन्न-भिन्न पात्रों का स्वांग भरती हैं। इन पात्रों में प्रायः साधु, प्रवासी-पति, नायक अथवा नायिका की बहुलता होती है। इस लोक-नाटक में नाटक के सभी मान्य तत्त्व, यथा—कथावस्तु, पात्र (चरित्र-चित्रण), कथोपकथन, संगीत, नृत्य आदि—प्रस्तुत होते हैं। 'जागरना' में अश्लीलता का पुट भी होता है—किन्तु अश्लीलता की इतनी मात्रा प्रायः सभी लोक-नाटकों में पाई जाती है। महाराष्ट्र के लोक-नाटक, तमाशा, में अश्लीलता का पुट सर्वाधिक था जिसे 'तमाशा सुधार आन्दोलन' ने दूर कर दिया है। इसी प्रकार उत्तर-भारत की नौटंकी में भी बाजारूपन का पुट है। यह अश्लीलता उसकी कथावस्तु का एक आवश्यक अंग बन गई है। लगभग यही दशा अन्य लोक-नाटकों की भी है।

एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि लोकनाटक, रंगमंच का अभिन्न अंग है। रंगमंच के विकास में इसका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। यह अलग बात है कि एक लम्बे अरसे तक अंधकार में रहने और उपेक्षा की पात्र होने के कारण यह लोककला आज कुछ विशेष अच्छी दशा में नहीं है।

डुग्गर प्रदेश में सुनियोजित रंगमंच के आरम्भ से पूर्व भगतां और रासलीला का अत्यधिक प्रचलन था। उस समय जम्मू प्रान्त में कहीं भी रंगमंच, मंडुए अथवा प्रेक्षागृहों का निर्माण नहीं हुआ था। अतः भगतां और रासलीला करने वाले कलाकार खुले मैदानों में अपनी कला का प्रदर्शन करते थे।

भगतां

भगतां का केन्द्र, चित्रकला के लिए अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त बसोहली प्रदेश है। भगतां में भाग लेने वाले कलाकार भगतिये कहलाते हैं। सम्भव है कि कश्मीर के प्रसिद्ध लोकनाटक भांड-पथर को प्रस्तुत करने वाले भगतों के साथ डुग्गर के इन भगतियों का कोई दूर-पार का सम्बन्ध रहा हो। किन्तु इस सन्दर्भ में निश्चित रूप से कुछ कहने के लिए पर्याप्त शोध एवं खोज-पड़ताल की आवश्यकता है। भगतियों का मुखिया, किसी गांव के मैदान में भगतां प्रस्तुत करने के प्रबन्ध करता, प्रचार-प्रसार की जिम्मेदारी निभाता और अंततः खेल में स्वयं भी भाग लेता है। इन नाटकों में दृश्यों इत्यादि के प्रयोग की व्यवस्था नहीं होती किन्तु आवश्यकतानुसार वस्त्राभूषण आदि धारण करके स्वांग भरने की परम्परा अवश्य मिलती है। इन लोगों के मंच को लोग तीन ओर से घेर कर बैठ जाते और मशालों की रोशनी में भगतां का प्रदर्शन आरम्भ हो जाता। यह लोक-कलाकार अपने क्षेत्र के सूद-खोर साहूकारों, कपटी लोगों तथा पाखंडी

धर्मगुरुओं की नकलें उतारते। इस सारे आयोजन में मज़ेदार बात यह होती कि दर्शकों में वे लोग भी बैठे होते जिनकी कि नकल उतारी जा रही होती थी और कि यह लोग भी इसमें से रस ग्रहण करते थे। कहा जाता है कि इन व्यंग्यपूर्ण नकलों से इतर इन लोगों ने धार्मिक विषयों को लेकर गंभीर नाटकों का प्रदर्शन भी किया है।

भगतां में लोक-नाट्य के सभी गुण विद्यमान हैं किन्तु खेद है कि कश्मीरी भांड पथर की भांति इसकी सम्भाल और विकास के लिए किसी भी प्रकार के प्रयत्न नहीं किए गए।

रास मंडलियां

डोगरी शीराज़ा (सन् १९६५, अंक दो) में प्रकाशित अपने एक लेख में श्री विजय सुमन ने रास मडलियों की चर्चा करते हुए लिखा था कि जब शहर में किसी रास मण्डली का आगमन होता तो समझदार बुजुर्ग लोग कहने लग जाते थे कि अब लोगों ने अपने घरों के बर्तन तक भी बेच डालने हैं। इस बात से रास डालने वालों की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

रासधारियों को शहर में जहां कहीं भी खुला और सपाट स्थान दिखाई देता, वे वहीं पर दरी बिछाकर, लोगों के घेरे के भीतर अपना प्रदर्शन आरम्भ कर देते। आस-पास के घरों की छतों पर भद्र महिलाएं भी रास देखने के लिए आसन जमा लेतीं। श्री सुमन के कथनानुसार रासधारियों का खेल 'गणपति पूजा' से आरम्भ होता, फिर विदूषक एक दूसरे पर व्यंग्य कसते हुए लोगों का मनोरंजन करते और अंत में गीतों, गानों और टप्पों का सिलसिला आरम्भ हो जाता था। मंडली के सुन्दर एवं लम्बे-लम्बे बालों वाले लड़के स्त्रियोचित वेष-भूषा में नाचते गाते थे और दर्शकगण मस्ती में आकर इन पर पैसों की बौछार कर देते थे। जो जरा अधिक रंगीन-तबीयत के होते वे एक-दो रुपये की 'बेल' करवाते और अपने मनपसन्द गीत-टप्पे आदि सुनते। यह सिलसिला आधी रात तक चलता था। तदुपरान्त धार्मिक-लीला आरम्भ होने से पूर्व एक रासधारिया एक थाली, जिसमें दीपक जल रहा होता था, लोगों में घुमाता था। सभा में बैठा प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति उस थाली में पैसे डालता था। यह रास-लीला प्रातःकाल समाप्त हो जाती थी। लोग बड़ी उत्सुकता एवं चाव से सारी-सारी रात यह रास-लीलाएं देखने में मग्न रहते थे।

●

आइए अब जम्मू नगर में सुनियोजित रंगमंच के आरम्भ तथा नाटकों के विकास के सम्बन्ध में विचार करें।

रघुनाथ कम्पनी

१८५६ ई० में महाराजा रणवीरसिंह ने जब राजकार्य सम्भाला तो प्रदेश में धीरे-धीरे शान्ति स्थापित होने लगी। वस्तुत: डोगरा राजवश के वे पहले राजा थे जिन्हें साहित्य, संस्कृति एवं भाषा के सम्बन्ध में कुछ सोचने अथवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। शीराज़ा हिन्दी (१९६६) में प्रकाशित एक लेख में श्री धर्मचन्द्र प्रशान्त ने प्रतिपादित किया है कि महाराजा रणवीरसिंह ने मथुरा एवं वृन्दावन से कुछ एक नाट्य-मंडलियों को जम्मू बुलवाया। इन मंडलियों ने कृष्णलीला एवं रामलीला के प्रभावशाली प्रदर्शन किए। इनसे प्रेरणा ग्रहण करते हुए जम्मू के कुछ सहृदय एवं रसवन्त नागरिकों ने जम्मू में भी इसी प्रकार की मंडलियों की स्थापना पर बल दिया। ऐसा आभास मिलता है कि महाराजा रणवीरसिंह की मृत्यु से पूर्व ही इस पहली नाटक-मंडली, जिसका नाम सम्भवत: 'रघुनाथ नाटक कम्पनी' रखा गया था, का जन्म हो चुका था। विश्वास किया जाता है कि इस संस्था ने महाराजा रणवीरसिंह के जीवनकाल में किसी भी नाटक का प्रदर्शन नहीं किया था।

१८८५ ई० में महाराजा प्रतापसिंह सिंहासनारूढ़ हुए। उन्हीं के राज्यकाल में रघुनाथ कम्पनी ने नियमित रूप से कार्य आरम्भ किया। इस कम्पनी के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए श्री रामनाथ शास्त्री ने श्री चेतराम चोपड़ा एवं श्रीयुत श्रीनिवास शाह से भेंट-वार्ता की। चोपड़ा साहब के कथनानुसार रघुनाथ मंदिर के प्रांगण में, जहां आजकल एक उपवन बनाया गया है, एक मंडुआ (मंडप) था जिसमें यह कम्पनी धार्मिक नाटकों का प्रदर्शन करती थी। उनके मतानुसार इस कम्पनी के अभिनेताओं को पगार राजकोष से मिला करती थी किन्तु श्री प्रशान्त एवं श्री शाह का विचार है कि कम्पनी की तमामतर जिम्मेदारी धर्मार्थ विभाग पर थी। इसी सन्दर्भ में जब मैंने और श्री रामनाथ शास्त्री ने धर्मार्थ विभाग के एक पुराने कर्मचारी पं० गौरी शकर से भेंट की तो उन्होंने स्पष्ट किया कि महाराजा रणवीरसिंह के आदेशानुसार संवत १९४० में धर्मार्थ विभाग ने रघुनाथ मंदिर में नियमित रूप से नृत्य एवं संगीत का कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए कुछ कलाकारों को नौकर रखा। बाद में इन्हीं कलाकारों की सहायता से रघुनाथ थियेट्रिकल कम्पनी की स्थापना हुई।

पं० गौरी शंकर ने हमें बताया था कि उनके दादा स्व० श्री जगतराम १७ वर्ष की आयु में ही अपने गांव राजपुरा (तहसील हीरानगर) को छोड़कर

चलते-चलाते मथुरा, वृन्दावन जा पहुंचे थे। वहां उन्होंने रासलीला की कला की शिक्षा प्राप्त की। उन दिनों क्योंकि पढ़ने-लिखने का प्रचलन बहुत कम था, इसलिए रासमंडलियों के संचालक, जिन्हें भगत कहा जाता था, अनेक प्रकार की लीलाओं को कण्ठस्थ रखते थे। जगतराम जी ने भी कुछेक लीलाओं को कण्ठस्थ किया, उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने की जानकारी प्राप्त की और जम्मू लौट आए। यहां इन्होंने रासधारियों की एक टोली का गठन किया और गांव-गांव में घूम-फिर कर कार्यक्रमों का प्रदर्शन आरम्भ कर दिया। इसी प्रकार कार्यक्रम करते हुए यह मंडली पंजाब से होती हुई सिंध, शकारपुर तक जा पहुंची। इनकी रासलीला की प्रशंसा सुनकर एक सेठ ने इन्हें सीधे शकारपुर चले आने का निमन्त्रण भिजवाया। सेठ ने मन्नत मांगी कि यदि उनके घर में पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ तो वे जगतराम जी को आजन्म पांच रुपये महीना देते रहेंगे। पं० गौरीशंकर के कथनानुसार वह सेठ श्री जगतराम को, उनके (गौरी शंकर के) होश सम्भालने तक भी, पांच रुपये महीना भिजवाता रहा था।

शकारपुर से 'ढोका' (नगरोटा) के वजीर 'पुन्नूं' ने जगतराम जी को बुलवा भेजा। चार महीने तक वहां रासलीला करने के बाद श्री जगतराम अपनी मंडली के साथ अन्ततः राजपुरा वापस लौट आए। वजीर पुन्नूं, इनकी कला से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अवसर मिलते ही महाराजा रणवीरसिंह से इनकी सिफारिश कर दी। महाराजा ने इन्हें बुलाने के लिए दो बन्दूकधारियों को भेजा। यह उस समय की बात है जब बन्दूकधारियों को देखते ही, आतंक के मारे, गांव शोकमग्न हो जाता था।

भगत जगतराम ३० आषाढ़ १९४० (विक्रमी संवत) को जम्मू आए और उन्होंने नियमित रूप से यहां पर गाने-बजाने की दाग-बेल डाली। धर्मार्थ विभाग की पहली प्रबन्धक परिषद, जिसमें महाराजा प्रतापसिंह, राजा रामसिंह एवं राजा अमरसिंह भी पार्षद थे, ने विधान की धारा १७ के अन्तर्गत आदेश जारी किया कि —

१. रघुनाथ मंदिर में प्रतिदिन संगीत एवं नृत्य का आयोजन किया जाए।
२. प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष की एकादशी को रघुनाथ मंदिर में रास-लीला का प्रदर्शन किया जाए।
३. शुक्ल-पक्ष की एकादशी को गदाधर जी के मंदिर में रास रचाई जाए।

४. प्रत्येक मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी तिथि को रणवीरेश्वर मंदिर में शिवपुराण से लिए गए प्रसंगों पर आधारित लीलाओं का अभिनय किया जाए।

विधान की इस धारा के अनुसार इस मंडली की मासिक आय १०० रुपये माहवार निश्चित की गई। वस्त्रों एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए १३५ रुपये, दोनों एकादशियों पर व्यय के लिए ५० रुपये तथा प्रदर्शनों से सम्बन्धित अन्य किसी भी प्रकार के व्यय के लिए १०० रुपये का प्राविधान रखा गया।

यह क्रम १९४९ वि० तक चलता रहा। तदुपरान्त जब धर्मार्थ परिषद का पुनर्गठन करते हुए उसे विभाग का रूप दिया गया तो उसके पहले मोहतम (प्रबन्धक) कश्मीर के दीवान जानकी प्रसाद ने महाराजा साहब से नए प्रकार के रंगमंच की स्थापना के लिए मंत्रणा की और रासधारियों की इस मंडली में से कुछेक सधे हुए कलाकारों को लेकर रघुनाथ थियेट्रिकल कम्पनी बनाई। अन्य कलाकारों को मंदिर में गाने-बजाने के लिए नौकर रख लिया गया।

भगत जगतराम थियेट्रिकल कम्पनी में सम्मिलित नहीं हुए किन्तु उनके बड़े लड़के श्री प्यारे लाल, जो 'प्यारू' के नाम से प्रसिद्ध थे, और उनके छोटे भाई पं० दुर्गादास (पं० गौरी शंकर के पिता) इस नाटक कम्पनी के सुप्रसिद्ध कलाकारों में से थे। श्री प्यारे लाल वीर योद्धाओं की भूमिका, विशेष रूप से हनुमान की भूमिका, सशक्त रूप से निभाते थे तो श्री दुर्गादास स्त्रियों की भूमिका निभाने में निपुण माने जाते थे। इस कम्पनी में मुसलमान कलाकार भी काम करते थे। इन मुसलमानों में कम्पनी के संचालक मास्टर रहमत के अतिरिक्त भाई नानक बख्श तथा भाई मस्सां उल्लेखनीय हैं।

इस कम्पनी के लिए रघुनाथ मंदिर के प्रांगण में, जहां आजकल पार्क बना हुआ है, एक सुन्दर एवं आकर्षक छता हुआ मंच तैयार किया गया जो वर्तमान सनातन धर्म नाटक समाज के मंच से कहीं अधिक बड़ा एवं खुला था। दरबार के साथ कम्पनी के कलाकार भी छः महीनों के लिए, गर्मियों में, श्रीनगर चले जाते थे। एक बार मरी के रास्ते श्रीनगर से लौटते हुए मास्टर रहमत कम्पनी को पेशावर ले गए और उन्होंने वहां भी कई नाटकों के प्रदर्शन किए। जब महाराजा बहादुर को इस बात की सूचना मिली कि कम्पनी ने उनकी आज्ञा पाए बिना पेशावर में जाकर अपनी कला का प्रदर्शन किया है तो उन्होंने कम्पनी को तोड़ देने का आदेश सुना दिया। इस प्रकार यह कम्पनी तोड़ दी गई।

उन दिनों के कलाकारों की बात करते हुए पं० गौरी शंकर जी ने बताया कि नाचने-गाने वालों में सुखदेव कत्थक एवं संतराम पलासर, ठाकरदास, गंगाराम तथा भगत जगतराम के सबसे छोटे भाई देवीदास जी ने अपनी कला से लोगों को मंत्रमुग्ध कर दिया था।

रघुनाथ थियेट्रिकल कम्पनी के टूट जाने पर श्री प्यारे लाल अपने गांव राजपुरा लौट आए। उनके पिता, जगतराम, निरंतर रामलीला खेलते रहे। ४२ साल तक निरन्तर श्री रघुनाथ जी की सेवा करते रहने के बाद २५ माघ १९८३ (वि०) को बसन्त के दिन, दोपहर के एक बजे वे चिरनिद्रा में लीन हो गए। तब राजकीय आदेश, संख्या ३३८, दिनांक २८ बसाख २९८४ वि० के अन्तर्गत भगत जगतराम के पौत्र पं० गौरी शंकर हैडमैन नियुक्त किए गए और आजतक वे अपने उसी पद पर बने हुए हैं।

बम्बई से विक्टोरिया कम्पनी का आगमन

श्री धर्मचन्द्र प्रशांत ने अपने लेख में इंगित किया था कि सन १८९८ में जम्मू के कुछ कलाकारों ने पारसी थियेटर की सुप्रसिद्ध कम्पनी विक्टोरिया कम्पनी का प्रदर्शन लुधियाना में देखा और वहीं उक्त कम्पनी को जम्मू आने के लिए निमंत्रित किया। सन् १८९८ में ही महाराजा हरिसिंह के मुंडन संस्कार हुए। अतः अनुमान लगाया जाता है कि इस शुभ अवसर पर आयोजित उत्सवों की शोभा में वृद्धि करने के लिए संदर्भित कम्पनी को सरकारी खर्च पर जम्मू बुलवाया गया था। इस अनुमान का एक और भी कारण है। यह कम्पनी मूलतः व्यावसायिक थी अतः कुछेक कलाकारों द्वारा आमन्त्रित किए जाने पर इसके जम्मू चले आने की बात कुछ उचित नहीं जान पड़ती। इस कम्पनी ने 'मंडी मुबारक' के ग्रीन हॉल में कुछेक नाटकों का प्रदर्शन किया। इन अवसरों पर महाराजा बहादुर भी दर्शकों की पंक्ति में विराजमान थे। उन्होंने उत्कृष्ट अभिनय करने वाले कलाकारों को समुचित रूप से सन्मानित भी किया।

जम्मू के नाट्य-प्रेमियों को पारसी थियेटर के इन चमत्कारी नाटकों ने बड़ी प्रेरणा दी। उनके दिलों में इस प्रकार के नये नाटकों को खेलने की उमंग पैदा हुई। श्री प्रशान्त के अनुसार १९३० से रघुनाथ कम्पनी ने भी सामाजिक नाटकों का प्रदर्शन आरम्भ कर दिया। मैं मानता हूं कि यह विक्टोरिया कम्पनी से प्राप्त प्रेरणा का ही फल था। प्रशान्त जी का यह भी मत है कि विक्टोरिया कम्पनी से स्पर्द्धा करते हुए इस कम्पनी ने भी पंजाब के कुछ स्थानों, यथा,

रावलपिंडी और पेशावर आदि में अपने नाटकों का असफल प्रदर्शन किया था और शायद कम्पनी के टूटने का कारण भी यही असफलता थी। इससे यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि धर्मार्थ विभाग ने उक्त कम्पनी को दी जाने वाली आर्थिक सहायता से हाथ खींच लिया होगा।

एमेच्योर नाटक-क्लब की स्थापना

विक्टोरिया कम्पनी की प्रेरणा तथा भारत के अन्य भागों में खेले जा रहे आगा हश्र कश्मीरी के प्रसिद्ध नाटकों की चर्चा ने जम्मू के नाट्य-प्रेमियों को एक बार फिर आन्दोलित किया और उन्होंने एक क्लब की स्थापना की जिसके प्रदर्शनों के लिए दीवान बद्रीनाथ ने मंदिर श्री दीवान ज्वाला सहाय के प्रांगण में रंग-स्थली बनवा दी। इस प्रकार इस क्लब ने जम्मू के रंगमंच की धमनियों में नवीन रक्त-संचार के लिए प्रयत्न आरम्भ किए।

चोपड़ा साहब ने शास्त्री जी को बताया था कि पारसी कम्पनियों के रंगमंच की साज-सज्जा, पर्दे, संगीत इत्यादि की चमक-दमक एकदम निराली थी। यह वह समय था जब पारसी थियेटर का प्रभाव पूरे देश के रंगमंच पर पड़ रहा था, अतः जम्मू का रंगमंच भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इस क्लब में काम करने वाले सभी कलाकार प्रायः सरकारी कर्मचारी थे और बिना किसी लोभ के केवल शौक के लिए नाटक करते थे। इसी कारण इन्होंने अपनी संस्था का नाम **एमेच्योर क्लब** रखा था।

इस क्लब ने पर्याप्त तैयारी के पश्चात्, दीवान मंदिर के रंगमंच पर अपने प्रथम नाटक **चन्द्रावली** का प्रदर्शन किया। लोगों ने इसकी बेहद सराहना की। इस क्लब की श्री ए० ऐन० पूर्वी, इंस्पैक्टर-जनरल कस्टम्स ने विशेष सहायता की। इस क्लब के निर्देशक, महाराजा की क्रिकेट टीम के कप्तान, श्री रामकृष्ण थे जो अभिनय कला में भी निपुण थे। वे उर्दू के सफल कवि भी थे और इनका उपनाम 'ग़ाफ़िल' था। **एमेच्योर क्लब** को उर्दू के प्रसिद्ध नाटककार साहबज़ादा मुहम्मद उमर का सहयोग भी प्राप्त था। इस क्लब के कुछेक कलाकार बेजोड़ थे। इनमें कैप्टन रामकृष्ण के अतिरिक्त सर्वश्री कृष्णचन्द कत्याल, बाल मुकुन्द, ज्ञानचन्द कत्याल एवं घनश्याम बड़ू के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ अन्य कलाकारों के नाम इस प्रकार हैं—सर्वश्री बूटाराम, छोटू लाल, प्रीतम चन्द, नूर इलाही, हुसन अली, गौरी दत्त, अमर नाथ रैना एवं जगन्नाथ चार्ली।

'चन्द्रावली' के पश्चात् इन कलाकारों ने श्री नारायण प्रसाद 'बेताब' रचित रामायण नाटक का मंचन किया जिसमें दुर्योधन की भूमिका में श्री कृष्ण चन्द कत्याल, विदुर की भूमिका में कैप्टन रामकृष्ण एवं द्रौपदी की भूमिका में पहले श्री ज्ञानचन्द कत्याल तथा बाद में श्री घनश्याम ने अभिनय किया था। इस सफल मंचन की, विशेष रूप से कृष्ण चन्द कत्याल के अभिनय की, शहर में देर तक धूम रही।

इस क्लब के अगले नाटक 'बिलवा मंगल' में कैप्टन रामकृष्ण बिलवा मंगल बने थे तो पं० घनश्याम चिंतामणि। रामदास की भूमिका में कृष्ण चन्द कत्याल थे तो कृष्ण की भूमिका में इन्द्रसेन। इस नाटक की अत्यधिक सफलता का प्रमाण यह है कि दरबार के श्रीनगर जाने पर, वहां भी इसके प्रदर्शन की व्यवस्था की गई। वहां सर्वश्री रामकृष्ण एवं घनश्याम को स्वर्ण-पदक एवं नकद राशि पुरस्कार रूप में प्राप्त हुई।

अन्य सभाएं/संस्थाएं

श्री विजय सुमन का मत है कि एमेच्योर क्लब की सफलता से प्रभावित होकर कुछेक मुसलमान दोस्तों ने **फ्रैंड्स क्लब** की आधारशिला रखी और आगा हश्र कश्मीरी के नाटकों का मंचन आरम्भ किया। इस क्लब के एक अभिनेता मुहम्मद हुसैन का नाम उल्लेखनीय है।

श्री सुमन का कहना है कि उन दिनों रघुनाथ मंदिर में एक अन्य संस्था—**कृष्ण ड्रामाटिक क्लब**—भी रामलीला का प्रदर्शन करती थी। किन्तु श्री रतन शर्मा के मतानुसार इसका नाम, **राम ड्रामेटिक क्लब** था और इसकी स्थापना का श्रेय श्री कांशी राम अग्रवाल को जाता है। इस क्लब की रामलीला में राम की भूमिका श्री अमरनाथ दुबे निभाते थे। महाराजा प्रतापसिंह के निधन के उपरान्त यह क्लब बन्द हो गई। बाद में इस क्लब के कलाकारों ने **कृष्ण ड्रामाटिक क्लब** बनाई और वर्तमान हरि टाकीज के प्रांगण में नाटकों का प्रदर्शन आरम्भ किया।

श्री सुमन के लेख से ज्ञात होता है कि अपनी आरम्भिक अवस्था में जम्मू के रंगमंच को जसवन्त सिंह की रामायण का सहारा लेना पड़ा था किन्तु कालान्तर में इसका स्थान 'उफ़क' तथा 'बेताब' की रामायण ने ले लिया।

उन दिनों के रंगमंचीय आन्दोलनों में श्री **भगत राम दसालिया** की भूमिका सराहनीय है। वे जम्मू के सर्वाधिक प्रसिद्ध मेक-अप मास्टर थे। उन्हें पारसी कम्पनी द्वारा जम्मू में खेले गए एक नाटक में स्त्री की भूमिका अभिनीत करने

का अवसर प्राप्त हुआ था। इन्होंने श्रीनगर में मंचित एक नाटक में एक कलाकार को महात्मा गांधी की भूमिका में प्रस्तुत करके दर्शकों को चकित कर दिया था।

सूर्य विजय कम्पनी का आगमन

सन् १९२१ में पुन्छ के राजा जगतदेव सिंह, जिन्हें प्रशान्त जी ने जगदेव सिंह लिखा है, का शुभ विवाह सम्पन्न हुआ। इन्हें महाराजा प्रतापसिंह ने गोद लिया हुआ था इसीलिए यहां भी बड़ी खुशियां मनाई गईं। इसी सन्दर्भ में **सूर्य विजय कम्पनी** को आमन्त्रित किया गया, जिसने ग्रीन हाल में अपने नाटकों का मंचन किया। इनमें सर्वाधिक प्रशंसित नाटक 'सावित्री, सत्यवान' था।

इन्हीं दिनों **एमेच्योर क्लब** ने भी, 'किंग लियर', 'ज़हरी सांप' तथा 'सफेद खून' नामक नाटक मंचित किए। जम्मू रंगमंच के इतिहास में यह समय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था क्योंकि तब यहां एक ही दिन में दो-दो नाटक खेले जाते थे।

मदन थियेटर का आगमन

महाराजा प्रतापसिंह के देहावसान के उपरान्त १९२६ में महाराजा हरिसिंह के राजतिलक के अवसर पर १८ फरवरी से ९ मार्च तक जम्मू में अनेकविध मनोरंजक उत्सवों का आयोजन किया गया।

प्रशान्त जी के अनुसार **एमेच्योर क्लब** को अपने नाटकों के मंचन के लिए राजकोष से दस हज़ार रुपये प्राप्त हुए। ७० हज़ार रुपये देकर कलकत्ता के **मदन थियेटर** को भी जम्मू बुलवाया गया जिसके प्रसिद्ध नाटकों के मंचन के लिए तत्कालीन अजायबघर के बड़े हाल को उपयोग में लाया गया। **मदन थियेटर** के कलाकारों, जिनमें **भगवान दास** एवं **मास्टर निसार** जैसे उच्चकोटि के अभिनेता सम्मिलित थे, ने बड़े ही प्रभावशाली नाटक प्रस्तुत किए। इनमें से 'कृष्ण-सुदामा' ने सर्वाधिक प्रशंसा एवं ख्याति अर्जित की। इस नाटक में भगवानदास कृष्ण बने थे और मास्टर निसार ने सुदामा की पत्नी शारदा की भूमिका निभाई थी।

एमेच्योर क्लब ने भी दीवान मन्दिर के प्रेक्षा-गृह में अनेक नाटकों का प्रदर्शन किया जिनमें से 'शोला-ए-इश्क' की मदन थियेटर के कलाकारों ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उन दिनों जम्मू में खेले जाने वाले नाटकों का स्तर निश्चय ही बहुत ऊंचा रहा होगा।

सनातन धर्म नाटक समाज

अंततः परिस्थितियों की लपेट में आकर **एमेच्योर क्लब** भी टूट ही गई और तब **सनातन धर्म नाटक समाज** ने जन्म लिया। यह क्लब आज भी धार्मिक एवं सामाजिक नाटकों के साथ नवरात्रों में 'रामलीला' का प्रदर्शन (मंचन) करती है। दीवान मंदिर के इसी मंच पर पंजाब के प्रसिद्ध कलाकार **मास्टर रहमत** की कम्पनी ने भी कुछ नाटक प्रस्तुत किए थे जिनमें से 'अनमोल मोती' की विशेष रूप से चर्चा की जा सकती है।

जम्मू की जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि के कारण अब वह समय आ गया था कि दीवान मंदिर के छोटे से अहाते में सारे नाटक-प्रेमियों का समा पाना कठिन हो चला था। परिणामस्वरूप अनेक नई नाटक-मडलियों का गठन किया गया। यथा, **वीर अभिमन्यु क्लब**, **सरस्वती नाटक समाज** तथा **भारती नाटक समाज** आदि। इन संस्थाओं ने जम्मू में नाटकों का एक ऐसा सिलसिला आरम्भ कर दिया जिसके चलते जम्मू में नित नये कलाकार प्रकाश में आने लगे।

जम्मू के रंगमच के विकास में स्व० श्री परसराम नागर ने भी अभूतपूर्व योगदान दिया। सुप्रसिद्ध फिल्म अभिनेताओं **के० एल० सहगल** एवं **ओम प्रकाश** से जम्मू के रगमंच पर अभिनय उन्होंने ही करवाया था।

इन नई संस्थाओं में से नवयुवक कलाकारों की एक संस्था—'**वीर अभिमन्यु क्लब**—ने **मदन थियेटर** के लिए बनाए गए अजायबघर के बड़े हाल में 'वीर अभिमन्यु' नाटक प्रस्तुत किया। इस पर **सनातन धर्म नाटक समाज** भी मैदान में उतरा और एक लम्बी तैयारी के बाद उसने भी इसी नाटक का मंचन किया। लोगों ने दोनों क्लबों के इन प्रयत्नों की खुले दिल से सराहना की।

डोगरी भाषा में नाटक

वस्तुतः जम्मू के रंगमंच को नए रंग में रंगने के प्रयास, गंभीरतापूर्वक, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही किए गए। सन् १९४७ में समूचे देश के साथ इस प्रदेश में भी जनतंत्र की स्थापना हुई। साहित्यकारों के चिंतन पर लगे अंकुश हटा लिए गए। कलाकारों ने भी परम्परा के बन्धनों को तोड़ डाला तथा साहित्य की अन्य विधाओं के समानान्तर 'नाटक' से भी देवी-देवताओं एवं राजा-महाराजाओं को निष्कासित करते हुए इसे जन-जीवन की धारा में घुल-मिल जाने दिया।

इन्हीं दिनों **पृथ्वी थियेटर** के कलाकारों ने 'उत्तम टाकीज़' में नवीन भावबोध के नाटक—**पठान, दीवार** तथा **आहुति** आदि—नई तकनीक के साथ प्रस्तुत किए।

धीरे-धीरे जनता ने अपने प्रांत की भाषा की उन्नति की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। इस प्रकार डोगरी में साहित्य रचना करने में स्थानीय लेखकों में झिझक का जो भाव पाया जाता था, वह तिरोहित होने लगा और वे अपनी मातृभाषा के साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए कार्यरत हो गए।

जिस प्रकार आधुनिक उड़िया नाटक का जन्म कटक अथवा पुरी जैसे शहरों की तुलना में एक साधारण ग्राम—कोटपाद—में हुआ, उसी प्रकार डोगरी के पहले नाटक का प्रदर्शन भी एक साधारण से गांव—टिक्करी (जिला उधमपुर)—में हुआ। यह नाटक था **बावा जित्तो**, जिसके लेखक थे **रामनाथ शास्त्री** और १९४८ में इसे मंचित करने का श्रेय **डोगरी संस्था** को प्राप्त रहा है। प्रमुख भारतीय भाषाओं की तुलना में डोगरी में नाट्य-लेखन लगभग एक सौ वर्ष के बाद आरम्भ हुआ। मराठी भाषा में प्रथम नाटक १८४३ ई० तथा बंगाल में १८७२ ई० में लिखा गया। यह बात कुछ हद तक आश्चर्यचकित करने वाली लग सकती है। एक पूरी शताब्दी का अन्तराल ! लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि १९४८ में डोगरी नाटक का लिखा और मंचित किया जाना किसी अचम्भे से कम न था। उस समय को यदि हम ध्यान में रखें तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय के जम्मू के रंगमंच के संदर्भ में डोगरी की स्थिति उस दासी से किसी भी प्रकार बेहतर नहीं थी जो ऊंचे-ऊंचे महलों में रहते हुए भी इसकी सबसे निचली सीढ़ी से भी नीचे खड़ी रहने के लिए अभिशप्त होती है। ऐसे परिवेश में डोगरी में, **बावा जित्तो** जैसे महापुरुष के अमर बलिदान की कथावस्तु पर आधारित नाटक लिखना और प्रस्तुत करना निःसंदेह एक ऐतिहासिक घटना थी और यह एक अटल सत्य है कि नये रास्तों का निर्माण बलिदान के बिना प्रायः असम्भव होता है।

बावा जित्तो के पश्चात् डोगरी में रंगमंच के लिये जो नाटक लिखे गए, वे इस प्रकार हैं—**नमाँ ग्रां** (सर्वश्री रामनाथ शास्त्री, दीनूभाई पंत तथा रामकुमार अबरोल), **सरपंच** तथा **संझाली** (दीनूभाई पंत), **सार** (रामनाथ शास्त्री), **धारें दे अत्थरूं** (वेद राही), **देवका जन्म** (धर्मचन्द्र प्रशान्त), **अस भाग जगाने आले आं** (नरेन्द्र खजूरिया), **अल्हड़ गोली वीर सिपाही, अपने जाल शकार बी आपूं**

(नृसिंह देव जमवाल), **जनौर, मेरे शत्रु मेरे मित्तर, इक परछामां बदली दा** (मदन मोहन शर्मा)।

डोगरी नाटक के इतिहास में उन नाटककारों, कलाकारों तथा अन्य रंगकर्मियों के योगदान को सदा स्मरण किया जायेगा जिन्होंने जम्मू प्रांत में नये डोगरी नाटक को परवान चढ़ाने के लिए गांव-गांव घूम कर **'नमां ग्रां'** और **'सरपंच'** का सफल मंचन किया। यह लोग किसी व्यावसायिक नाटक मंडली के सदस्य नहीं थे, वे सब **डोगरी संस्था** के सदस्य थे जो सारा दिन अपनी-अपनी नौकरी करने के बाद शाम को किसी एक स्थान पर एकत्र होकर गांव-विशेष की ओर प्रस्थान करते थे, जहां वे युद्ध-स्तर पर नाटक के प्रदर्शन की तैयारी करते थे। स्टेज बनाई जाती, कनातों का घेरा तनता, एक दूसरे का मेक-अप किया जाता और फिर सहस्रों लोगों की उपस्थिति में नाटक आरम्भ हो जाता। उन स्थानों पर लोगों की ऐसी भीड़ शायद ही कभी जमा होती होगी। खुले-सपाट मैदानों में बैठे लोग मानो इन नाटकों के माध्यम से अपने दिल की धड़कनों को साकार होते हुए देखते थे। थकन से चूर हुए कलाकार लोगों के इस स्नेह और उत्साह को देख कर अपनी थकान और भूख-प्यास को भूल जाते थे। आधी रात बीतने पर वे लोग अपना-अपना सामान समेट कर भूखे-प्यासे, किन्तु प्रसन्न चित्त, अपने-अपने घरों को यूं लौट आते जैसे युद्ध-भूमि में विजय प्राप्त करने के बाद वीर योद्धा घरों को लौटते हैं।

इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं कि आज डोगरी में इस प्रकार के नाटकों की निःसंदेह कमी है जो साहित्यिक एवं कलात्मक होने के साथ रंगमच की दृष्टि से भी उत्कृट हों। डोगरी नाटक खेलने वालों को आज भी उन्हीं नाटकों का मुंह देखना पड़ता है जिन्हें उन्होंने आज से दस वर्ष पूर्व कभी खेला था। किसी भी विकासशील रंगमंच का काम केवल पुराने नाटकों से नहीं चल सकता। दर्शक उन्हें देख-देख कर एक दिन निश्चय ही उकताहट और ऊब का अनुभव करेगा। यही नहीं, रंगमंचीय आंदोलन भी पिछड़ जाता है। अतः यह कहना नितांत समीचीन होगा कि आज डोगरी रंगमंच के लिए ऐसे नए नाटकों की अत्यधिक आवश्यकता है जो रंगमंच की मांगों को पूरा कर सकें तथा नवीन भाव-बोध के संवाहक बन सकें। इस दृष्टि से डोगरी लेखकों के लिए आवश्यक हो जाता है कि वे इस कमी को गंभीरतापूर्वक एक चुनौति के रूप में स्वीकार करें।

जे० एण्ड के० कल्चरल अकादमी का योगदान

जम्मू में रंगमंचीय आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए **जे० एण्ड के० कल्चरल अकादमी** ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। १९६४-६५ से प्रति-वर्ष अकादमी की ओर से **नाट्य-समारोह** आयोजित किए जाते / जा रहे हैं। इन समारोहों में स्थानीय रंग-संस्थाएं भाग लेती हैं। १९६४-६५ से लेकर १९७६-७७ तक इन समारोहों के अन्तर्गत हिन्दी, उर्दू, डोगरी और पंजाबी के लगभग **साठ नाटकों** का मंचन हुआ जिनमें स्थानीय लेखकों के निम्नलिखित नाटक सम्मिलित हैं—

नाटक	भाषा	लेखक	रंग-संस्था
१. स्वर्ग की खोज	(हिन्दी)	दीनू भाई पंत	कल्चरल फोरम
२. मौत के गीत	(,,)	रत्न शर्मा	जम्मू कला-मन्दिर
. सरपंच	(डोगरी)	दीनू भाई पंत	जम्मू कला-मन्दिर
४. रास्ता, कांटे और हाथ	(हिन्दी)	स्व. नरेन्द्र खजूरिया	भारत कला-मन्दिर
५. नमां ग्रां	(डोगरी)	रामनाथ शास्त्री, दीनू भाई पंत, राम कुमार अबरोल	देहाती कला-केन्द्र
६. पंच परमेश्वर	(डोगरी)	पूर्ण सिंह	फ्रैंड्स क्लब
७. देहरी	(डोगरी)	राम कुमार अबरोल	नवीन नाटक समाज
८. आन-मर्यादा	(डोगरी)	नृसिंह देव जमवाल	फ्रैंड्स क्लब
९. धरती और हम	(उर्दू)	राम कुमार अबरोल	जम्मू आर्टस क्लब
१०. राजा मंडलीक	(डोगरी)	नृसिंह देव जमवाल	फ्रैंड्स क्लब
११. ढौंदियां कंदां	(डोगरी)	स्व. नरेन्द्र खजूरिया	,, ,,
१२. धारां गूंजी पेइयां	(डोगरी)	नृसिंह देव जमवाल	,, ,,
१३. जीने दी कैद	(डोगरी)	ललित मगोत्रा, चमन अरोड़ा	डोगरा मंडल

स्थानीय नाटककारों के नाटकों को मंचित करने वाली उपरोक्त नाट्य-संस्थाओं से इतर भी अनेक ऐसी संस्थाएं रही हैं और आज भी हैं, जिनका स्थानीय रंगमंच के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन संस्थाओं में प्रमुख हैं—जम्मू की बहुरंगी, सनातन धर्म नाटक समाज, यंग भारती क्लब, राजकीय महिला कालेज ड्रामाटिक क्लब, इंटरनेशनल मेडिटेशन सोसायटी, कला

निकेतन क्लब, कला ज्योति क्लब, पीपल्स थियेटर, थियेटर क्रोज, एमेच्योर आर्ट्स एसोसियेशन, रूपवाणी कला मंदिर, एम० एण्ड एस० कल्चरल सोसायटी, युवक कला संगम, नटराज कला मंदिर, रंगशाला ड्रामाटिक क्लब। **राजपुरा** की ड्रामा क्लब। **उधमपुर** में राम कला मंदिर तथा **रामनगर** की शिव कला मंदिर तथा त्रिवेणी कला संगम।

१९६६-६७ में अकादमी के सौजन्य से **जॉफरी कैंडल** की सुप्रसिद्ध नाटक-मंडली **शेक्सपीयराना** ने जम्मू में शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटकों को बड़े प्रभावशाली ढंग से मंचित करके स्थानीय कलाकारों को आश्चर्यचकित कर दिया तथा नाटक के प्रत्येक विभाग में प्रफैक्शन लाने की प्रेरणा दी।

१९६९ में नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से प्रशिक्षण प्राप्त **श्री कवि रत्न** को अकादमी में ड्रामा-इंस्ट्रक्टर के पद पर नियुक्त किया गया। तब अकादमी ने सुप्रसिद्ध नाटकों का मंचन अपने हाथ में लेकर एक नयी राह हमवार की। श्री कविरत्न के निर्देशन में मंचित निम्नलिखित नाटकों ने जम्मू में रंग-मंचीय आंदोलन को शक्ति प्रदान करने के साथ नवोदित रंगकर्मियों को अपनी प्रतिभा दर्शाने एवं आत्मालोचन करने के सुअवसर भी प्रदान किए :—

आधे अधूरे (मोहन राकेश—२१-२-७७), **रीढ़ की हड्डी** (जे० सी० माथुर —५-८-७०), **चार दिन** (विजय तेन्दुलकर), **खामोश अदालत जारी है** (विजय तेन्दुलकर—२६-२७ फरवरी १९७१), **भगवद अज्जुकीयम** (बौद्धायन—२२-१-७२), **कागज की दीवार** (रूपांतरकार श्री ललित सहगल—२८-३-७२), **धर्मशाला** (वीरेन्द्र नारायण—१७-९-७२), **बाकी इतिहास** (बादल सरकार—(५-३-१९७०, ११-३-१९७३), **सुनो जनमेजय** (आद्य रंगाचार्य—३०-९-७३), **जसमां** (मूल गुजराती : श्रीमती शांता गांधी, डोगरी अनुवाद : कविरत्न—२४-३-७४, ९-४-७४), **पंछी ऐसे आते हैं** (विजय तेन्दुलकर—६-१-७४, १९-४-७४), **पगला घोड़ा** (बादल सरकार—१२-२-७६, १२-३-७६)।

जम्मू-कश्मीर में उर्दू साहित्य : एक परिचय

—मुहम्मद यासीन बेग

जम्मू-कश्मीर की राज्य-भाषा उर्दू है। यह भाषा देश के अन्य भागों की भान्ति यहां भी सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। जम्मू-कश्मीर के तीन प्रान्तों में प्रमुख रूप से तीन भिन्न भाषायें बोली जाती हैं—यथा डोगरी, कश्मीरी और लद्दाखी। इनके अतिरिक्त अनेक छोटी-छोटी बोलियां भी हैं जिन में भद्रवाही, सिराजी, पहाड़ी तथा गोजरी आदि सम्मिलित हैं। पंजाबी भी जम्मू-कश्मीर की एक प्रमुख भाषा है और पंजाब के सीमावर्ती क्षेत्रों में इसका विशेष महत्त्व है। यह सभी बोलियां एवं भाषाएं एक ही परिवार से जुड़ी हुई होने पर भी अपना निजी रंग अपनाए हुए हैं तथा इनके बोलने वालों के आपसी मेल-मिलाप और बातचीत में उर्दू का प्रयोग खुल कर किया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में जम्मू-कश्मीर ही एक ऐसा प्रदेश है जिसने उर्दू को एक महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किया हुआ है।

उर्दू साहित्य की परम्पराएं

जम्मू-कश्मीर प्रदेश के उर्दू लेखकों ने उर्दू साहित्य की बड़ी सेवा की है। उन्होंने यहां साहित्य-रचना की परम्पराओं को ठोस आधार प्रदान किया है। यहां के कुछेक लोगों ने तो उर्दू साहित्य की प्रगति में अभूतपूर्व योगदान दिया है। इन महान लेखकों में दया शंकर नसीम, रतन नाथ सरशार, बृज नारायण चकबस्त, डॉक्टर इक़बाल, साहिबज़ादा मुहम्मद उमर, खुशी मुहम्मद नाज़िर, बृज मोहन वफ़ा, तिरिया कैफ़ी आदि प्रमुख हैं। इनमें से बहुत से लोग देश के दूसरे भागों

में जाकर बस गए थे लेकिन कश्मीर की सभ्यता और संस्कृति की विरासत से उनका एक गहरा रिशता क़ायम था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन लोगों में मुसलमानों के साथ हिन्दू भी समान रूप से सहभागी हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के दूसरे भागों की ही भांति जम्मू-कश्मीर में भी उर्दू की भूमिका सेक्यूलर रही है।

स्वातंत्र्योत्तर उर्दू साहित्य

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जम्मू-कश्मीर में जिस साहित्यिक आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा उसमें इस भाषा को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए चुना गया। यह एक कठोर सत्य है कि जिस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद देश के बाकी भागों में प्रान्तीय / क्षेत्रीय भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाने लगा, उसी प्रकार इस प्रदेश में भी यह भावना बल प्राप्त करने लगी। तो भी यहां के साहित्यकारों ने इसे उचित रूप से समृद्ध करने में कोई कोर-कसर उठा न रखी। क्षेत्रीय भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य पर भी उर्दू के साहित्यिक आन्दोलनों तथा विषय-वस्तु के प्रभाव को स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। सच तो यह है कि आज क्षेत्रीय भाषाओं के जो प्रमुख एवं विचार सम्पन्न लेखक हैं उनमें से अधिकांश ने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उर्दू की ही शरण ग्रहण की थी।

गोकि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद लेखकों की भारी संख्या ने उर्दू के स्थान पर क्षेत्रीय भाषाओं में लिखना आरम्भ कर दिया तो भी उर्दू साहित्य की जो कंदीलें इस क्षेत्र में जलीं उन्होंने अपनी रोशनी से पूरी दुनियां को प्रभावित किया। इन लोगों में प्रेमनाथ परदेसी, अली मुहम्मद लोन, नूरशाह, ठाकुर पुंछी प्रभृत्ति कहानीकार शामिल हैं। प्रेमनाथ परदेसी की कहानियां कश्मीरी जन-जीवन की अनूठी झलक प्रस्तुत करती हैं और यह परदेसी की साहित्यिक श्रेष्ठता का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। इन कहानियों की समीक्षा करने तथा इनके सन्दर्भ में परदेसी के व्यक्तित्व और कृतित्व के आकलन की बड़ी आवश्यकता है। बड़े खेद की बात है कि परदेसी, जो एक लम्बा अरसा पहले, हमसे बिछुड़ गया था, की साहित्यिक रचनाओं को न तो पूरी तरह प्रकाश में लाया गया और न ही उनके साहित्यिक स्तर का निर्धारण किया गया।

अली मुहम्मद लोन ने कहानियों के अतिरिक्त नाटक भी लिखे हैं। लोन की कहानियों में आम आदमी के सुख-दुख और उसकी समस्याओं का चित्रण है। लोन ने भिन्न भिन्न विषयों पर अनेक नाटक लिखे हैं। यह अलग बात है कि

इनमें से अधिकांश की रचना रेडियो के लिए हुई है। इन नाटकों में प्रगतिशीलता एवं रोमांटिसिज्म का मिला-जुला रंग उभर कर सामने आया है। लोन ने **शायद है तेरी आरजू** शीर्षक के अन्तर्गत एक लघु उपन्यास भी लिखा है जो कथानक की दृष्टि से एक सशक्त रचना है।

मोहन यावर, पुष्कर नाथ बी. ए., तेज बहादुर भान, हामदी कश्मीरी और कुलदीप रैणा ने भी उर्दू में कहानियां लिखी हैं। यह बात प्रोत्साहित करने वाली है कि क्षेत्रीय भाषाओं के प्रभाव में होने पर भी इन लोगों ने उर्दू में लिखते रहने के अपने क्रम को जारी रखा है और इस प्रकार उर्दू गद्य में पर्याप्त बढ़ोतरी होती रही है। इन में से प्रत्येक साहित्यकार का एक निजी व्यक्तित्व है। स्वर्गीय ठाकुर पुंछी को उर्दू के महान उपन्यासकारों में एक माना जा सकता है। उनके उपन्यास **वादियां और वीराने** में पहाड़ी जीवन का चित्रण बड़े मार्मिक एवं कलात्मक ढंग से हुआ है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता इसके पात्रों का मनोवैज्ञानिक धरातल पर सुन्दरतापूर्वक निर्वाह है। ठाकुर पुंछी के असामयिक निधन से उर्दू साहित्य की अपूर्णीय क्षति हुई है। उसकी साहित्यिक चेतना का प्रभाव जम्मू-कश्मीर के उर्दू लेखकों की एक पूरी पीढ़ी पर पड़ा है।

नूर शाह, पुष्कर नाथ और हामिदी कश्मीरी रूमानी कहानीकारों के रूप में उभरे हैं। गत कुछ वर्षों में उर्दू कहानी में जो परिवर्तन आया है उसे इन्होंने सहर्ष स्वीकार किया है तथा इस प्रकार अपनी कहानी को आधुनिक मूल्यों की संवाहिका बनाया है। नूर शाह ने अपनी कहानियों के लिए तिलिस्मी वातावरण को चुना है। उनकी भाषा की गठन पर इस वातावरण के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। यह कहानियां रूमानियत और सेक्स-चित्रण की अत्यधिकता होने के कारण यथार्थ से दूर दिखाई देती हैं। हामिदी कश्मीरी की कहानियों में कहीं कहीं कश्मीरी समाज का चित्रण मिलता है किन्तु कथानक एवं भाषा के स्तर पर यह कहानियां पाठक को अधिक देर तक बांधे रह पाने में असमर्थ प्रमाणित हुई हैं। पुष्कर नाथ कहानी लिखने की तकनीक से पूरी तरह वाकिफ़ हैं और वह कथानक का चुनाव भी बड़ी समझदारी से करते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियां एक स्थायी प्रभाव छोड़ने में समर्थ रहती हैं। समय एवं स्थानाभाव को ध्यान में रखते हुए मैंने कहानियों की विस्तारपूर्वक समीक्षा करने से बचते हुए यह उचित समझा है कि मैं कुछेक पंक्तियों में इन कहानीकारों की समग्र सफलताओं का आकलन करूं।

जम्मू-कश्मीर प्रदेश में उर्दू कहानी को सर्वाधिक गौरव और शैली का अनूठापन तेज बहादुर भान ने प्रदान किया है। उसकी कहानियां कथानक की दृष्टि से बड़ी सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण होती हैं। किन्तु तेज बहादुर की कहानियां भाषा की तीक्ष्ण एवं साफ अभिव्यक्ति के ऐतबार से कमज़ोर होती हैं। सम्भवत: यही कारण है कि अपनी तमामतर साहित्यिक खूबियों के बावजूद तेज बहादुर की कहानियां उर्दू पाठकों की विशाल सृष्टि में अपना उचित स्थान पा सकने में असफल रही हैं।

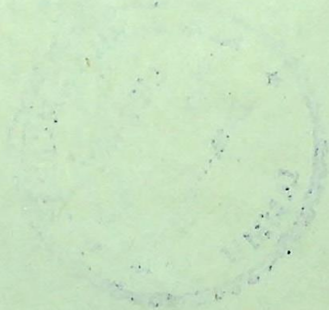
कविता

उर्दू शायरों में गुलाम रसूल नाजुकी, शहज़ोर कश्मीरी, तथा रसा जाविदानी इत्यादि उर्दू की परम्परागत शैली से प्रभावित हैं। उनकी गज़लें और नज्में उर्दू शायरी की पुरानी परम्पराओं की मुंह बोलती तस्वीर प्रस्तुत करती हैं। अर्श सहबाई, आबिद मनावरी, हामदी कश्मीरी, हकीम मंजूर, फ़ारूक नाजुकी, मुज़फ्फर इरज, फ़ारूक मुज़तर, शुजा सुल्तान तथा प्रितपाल सिंह बेताब आदि के नाम जम्मू-कश्मीर के सुप्रतिष्ठित उर्दू कवियों में प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते हैं। इन कवियों ने उर्दू शायरी की नवीन प्रवृत्तियों को बड़े कलात्मक एवं सफल ढंग से अपनाया है। उर्दू साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों के प्रति उनके झुकाव का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए उनकी उन रचनाओं को देखा जा सकता है जो देश की प्रतिष्ठित उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। इनमें से कुछेक कवियों ने अपने संकलन भी प्रकाशित किए हैं। अभी हाल ही में हामिदी कश्मीरी का कविता संग्रह **नायाफ्त** छपकर सामने आया है। यह संकलन इस बात की गवाही देता है कि इसमें हामिदी की पूर्ववर्ती रचनाओं की तुलना में बेहद मुख्तलिफ रचनाएं संग्रहीत हैं। इसमें शब्दों का प्रयोग इस ढंग से किया गया है कि वे नए अर्थों को उद्घाटित करते हैं। इस संकलन के प्रकाशित होने से हामिदी के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रसार हुआ है और उसका कवि अपनी पहचान स्थापित करवाने में सफल रहा है। हामिदी के बाद हकीम मंज़ूर ने भी अपना संकलन **नातमाम** के नाम से प्रकाशित किया है। इसमें मंज़ूर की ग़ज़लें संकलित हैं। इस संकलन को पढ़ने से मंज़ूर की काव्यात्मक योग्यता का पता चलता है। यह संकलन उसकी कला के निखार को रूपायित करता है। मंज़ूर को गहन दार्शनिक विषयों एवं बोझिल शब्दों का सुचारू प्रयोग करने की कला आती है—इसी कला ने उसकी ग़ज़लों को नए आयाम प्रदान

किए हैं। इसकी ग़ज़लों ने परम्परागत ग़ज़ल को नई दिशाओं की राह दिखाई है।

मुजफ्फर इरज, फ़ारूक़ मुज़तर, प्रितपाल सिंह बेताब और शुजा सुल्तान ग़ज़लों के साथ-साथ आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न कविताएं भी लिखते हैं। इनमें से अधिकांश कविताएं प्रकाशित हो चुकी हैं। इन कविताओं में असंगत प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से अपनी बात कहने का सफल प्रयास किया गया है। वस्तुतः इसी प्रकार की कविताएं उर्दू कविता को गौरवपूर्ण आधुनिक आयाम प्रदान करने में सफल हो सकती हैं।

रचना एवं आलोचना के पथ से गुज़रते हुए यह कहा जा सकता है कि यहां के साहित्यिक संसार में भी उर्दू भाषा को और आगे ले जाने की प्रक्रिया जारी है। इस संदर्भ में डॉ० अकबर हैदरी, डॉ० ज़हूर-उद्-दीन तथा डॉ० हामिदी कश्मीरी के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।









A Publication of :

J & K Academy of Art, Culture & Languages

JAMMU.